अंक 1, वर्ष 2026

ISSN: 2395-776X

संभराथल धारा

(तुलनात्मक धर्म-दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान (धार्मिक संकाय)

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय

हिसार-125 001 (हरियाणा)

अंक 1, वर्ष 2026

ISSN: 2395-776X

संभराथल धारा

(तुलनात्मक धर्म-दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

Refereed Research Journal of Comparative Religion and Philosophy

गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान (धार्मिक संकाय)

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय

हिसार-125 001 (हरियाणा)

संभराथल धारा – त्रैमासिक शोध पत्रिका

संरक्षक

प्रो. नरसी राम बिश्नोई, कुलपति

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

उप-संरक्षक

डॉ. विजय कुमार, कुलसचिव

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

मुख्य संपादक

प्रो. किशनाराम बिश्नोई

अध्यक्ष, गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

संपादक

डॉ. रामस्वरूप

सहायक प्रोफेसर

गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

संपादक मण्डल

1. प्रो. योगेश कुमार, कुलपति, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
2. प्रो. टंकेश्वर कुमार, कुलपति, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेन्द्रगढ़
3. प्रो. नन्दकिशोर पाण्डेय, कुलपति, हरिदेव जोशी पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय, जयपुर
4. प्रो. मोहन, कुलपति, वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, सिक्किम
5. प्रो. मुरली मनोहर पाठक, कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली
6. प्रो. माया मलिक, पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
7. प्रो. कृष्ण कुमार कौशिक, दिल्ली
8. प्रो. विरेन्द्र अंलकार
9. प्रो. कैलाश कौशल (जोधपुर)
10. प्रो. सरोज कौशल (जोधपुर)
11. प्रो. देवेन्द्र कुमार सिंह गौतम (जोधपुर)
12. प्रो. अयोध्या दास वैष्णव, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
13. प्रो. सुरेन्द्र कुमार, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय), रोहतक
14. प्रो. पुष्पा बिश्नोई, राजकीय स्नात्तकोतर महाविद्यालय, मगरा पूंजला, जोधपुर

सलाहकार समिति

1. प्रो. विभा अग्रवाल (कुरुक्षेत्र)
2. प्रो. अनिल जैन (जयपुर)
3. प्रो. विभा उपाध्याय
4. प्रो. विनीता परिहार
5. डॉ. गीता सामौर, जयपुर
6. डॉ. प्रेम सिंह, जोधपुर
7. प्रो. अब्दुल अलीम
8. प्रो. शैलेन्द्र शर्मा
9. डॉ. मीता शर्मा
10. डॉ. राजवीर सिवाच (हिसार)
11. प्रो. प्रेरणा माथुर

सन्त सान्निध्य

1. स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज
2. स्वामी रामदेव जी
3. स्वामी सुमेधानन्द सरस्वती जी
4. स्वामी कुमार स्वामी जी
5. स्वामी प्रणव पंडया
6. स्वामी चिदानंद जी, परमात्म निकेतन, ऋषिकेश
7. लोकेश मुनि जी महाराज
8. स्वामी (डॉ.) सच्चिदानन्द, लालासर

Foreign Advisory Committee

Dr. Deepak Sarma
Dept. of Religious Studies
Case Western Reserve University
Cleveland, OH: 44106-7112
deepak.sarma@case.edu, deepaksarma.com

Prof. Douglas Hedley
Faculty of Divinity
Cambridge University
rdh26@cam.ac.uk

Dhand Arti
Professor
University of Tornoto
arti.dhand@utoronto.ca

Dr. Ian Woolford
Hindi, Asian Languages
La Trobe University
i.woolford@latrobe.edu.au

Richard E. Menninger
Professor of Religion
Andrew B. Martin Distinguished Chair of Religion
richard.menninger@ottawa.edu

मूल्य एवं सदस्यता शुल्क

मूल्य व्यक्तिगत	–	रु. 500 प्रति
संस्था	–	रु. 800 प्रति
वार्षिक सदस्यता शुल्क	–	रु. 4,000
पंचवर्षीय सदस्यता शुल्क	–	रु. 12,000
आजीवन सदस्यता शुल्क	–	रु. 20,000

सुझाव आमन्त्रित हैः

e-mail: bishnoi.drkishnaram1963@gmail.com
Prof. (Dr.) Kishna Ram Bishnoi (+91 94164-22416)
Dr. Ramswaroop (+91 97820-05752)
e-mail: ramswaroopjhnwar@gjust.org

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण	लेखक	पृ. संख्या
1.	भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की अवधारणा	प्रो. पुष्पा बिश्नोई	1–9
2.	भारतीय ज्ञान परंपरा और गुरु जम्भेश्वर जी महाराज	डॉ. रामस्वरूप	10–19
3.	मध्यकालीन संत कबीर के काव्य में सामाजिक चेतना	डॉ. अमृत लाल जीनगर	20–26
4.	वैदिक वाङ्मय में जीवन मूल्य	डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर	27–31
5.	सबदवाणी में सामाजिक मूल्य	डॉ. कल्पना बिश्नोई	32–44
6.	मध्यकालीन भक्ति साहित्य: समन्वयवादी दृष्टिकोण	प्रो. किशनाराम बिश्नोई एवं डॉ. रामस्वरूप	45–50
7.	धर्म और नवाचार में योग की भूमिका का आधुनिक परिपेक्ष्य एक समीक्षा	डॉ. सोहन लाल एवं श्री प्रकाश	51–57
8.	रामचरितमानस में भारतीय समाज की अवधारणा	पुरुषोत्तम थोरी	58–61
9.	श्रीमंत शंकरदेव और रैदास की वाणी में मानवतावादी चेतना का स्वर	डॉ. रवि कुमार	62–66
10.	भारत की दिव्य महान् विभूति: गुरु जम्भेश्वर जी महाराज	प्रो. बलवीर चौधरी	67–70

प्रो. नरसी राम बिश्नोई
कुलपति
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
हिसार-125001, हरियाणा

सन्देश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान, गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक शोध पत्रिका **'संभराथल धारा'** का वर्ष 2026, अंक-1 विद्वत् समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। यह पत्रिका भारतीय आध्यात्मिक परंपरा, तुलनात्मक धर्म-दर्शन, भक्ति साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के विविध आयामों पर गंभीर एवं शोधपरक विमर्श के लिए एक सशक्त मंच के रूप में विकसित हो रही है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में धर्म केवल आस्था का विषय नहीं, बल्कि जीवन मूल्यों, नैतिकता, सामाजिक समरसता और प्रकृति के साथ संतुलित सहअस्तित्व की एक व्यापक दृष्टि है। हमारे संतों, महापुरुषों और आचार्यों ने अपने चिंतन के माध्यम से मानवता को सत्य, अहिंसा, परोपकार, दया, सहिष्णुता और लोककल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। विशेष रूप से गुरु जम्भेश्वर जी महाराज का लोक कल्याणकारी दर्शन, पर्यावरण संरक्षण की चेतना और मानवीय मूल्यों का संदेश आज के वैश्विक संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है।

मुझे विश्वास है कि इस अंक में प्रकाशित शोध आलेख भारतीय ज्ञान परंपरा, संत साहित्य, पौराणिक साहित्य, तुलसीदास, कबीर, रैदास आदि संतों की वैचारिक धारा तथा समकालीन सांस्कृतिक विमर्श को नई दृष्टि प्रदान करेंगे। यह पत्रिका न केवल शोधार्थियों और अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, बल्कि भारतीय संस्कृति और अध्यात्म के प्रति समाज में व्यापक जागरूकता उत्पन्न करने में भी सहायक बनेगी।

मैं इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान के अध्यक्ष, संपादक मंडल तथा अन्य सभी विद्वान लेखकों को हार्दिक बधाई देता हूँ, जिनके सतत् प्रयासों से यह शोध पत्रिका निरंतर प्रगति के पथ पर अग्रसर है। मुझे विश्वास है कि **'संभराथल धारा'** भविष्य में भी ज्ञान, शोध और सांस्कृतिक संवाद की इस परंपरा को समृद्ध करती रहेगी।

इसी शुभेच्छा के साथ मैं इस अंक के सफल प्रकाशन के लिए अपनी मंगल कामनाएं व्यक्त करता हूँ।

(प्रो. नरसी राम बिश्नोई)

डॉ. विजय कुमार
कुलसचिव
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
हिसार-125001, हरियाणा

सन्देश

ज्ञान, संवाद और विमर्श किसी भी शैक्षणिक परंपरा की जीवंतता के आधार होते हैं। मुझे प्रसन्नता है कि गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका संभराथल धारा का यह नया अंक पाठकों और शोधार्थियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। यह पत्रिका अकादमिक प्रकाशन के साथ-साथ भारतीय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक चिंतन की विविध धाराओं के मध्य सार्थक संवाद का एक सशक्त मंच भी है।

भारतीय ज्ञान परंपरा सदैव बहुलता, सहअस्तित्व, सहिष्णुता और समन्वय की भावना से अनुप्राणित रही है। विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं के तुलनात्मक अध्ययन से न केवल हमारे अतीत की बौद्धिक विरासत को समझने का अवसर मिलता है, बल्कि समकालीन समाज के लिए भी नए विचार परिप्रेक्ष्य निर्मित होते हैं। इस दृष्टि से संभराथल धारा जैसी शोध पत्रिका अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, जो परंपरा और आधुनिकता के बीच सेतु का कार्य करती है।

इस अंक में प्रस्तुत शोधपत्र भारतीय संत परंपरा, भक्ति साहित्य, पौराणिक विमर्श, योग तथा धर्म दर्शन से जुड़े विविध विषयों को नए संदर्भों में देखने का प्रयास करते हैं। मुझे विश्वास है कि यह अंक शोधार्थियों, शिक्षकों और जिज्ञासु पाठकों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगा तथा गंभीर अकादमिक विमर्श को नई दिशा प्रदान करेगा।

इस महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए मैं संपादक मंडल और सभी विद्वान लेखकों को हार्दिक बधाई देता हूँ। मेरी कामना है कि संभराथल धारा ज्ञान विमर्श की इस परंपरा को निरंतर आगे बढ़ाते हुए भविष्य में भी अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित करती रहे।

(डॉ. विजय कुमार)

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

1

भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की अवधारणा

प्रो. पुष्पा बिश्नोई, हिन्दी विभाग
राजकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मगरा पूंजला, जोधपुर

भारतीय संत परंपरा मानव सभ्यता की उन महान आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक धाराओं में से एक हैं, जिसने जीवन को केवल आत्ममोक्ष की साधना तक सीमित न मानकर उसे सामाजिक उत्तरदायित्व और लोक कल्याण से अभिन्न रूप से जोड़ा है। भारतीय मनीषा में संत को ऐसा महापुरुष माना गया है जो स्वयं के कल्याण के साथ-साथ समस्त लोक के कल्याण की चिंता करता है। संत साहित्य का मूल स्वर लोकाभिमुख रहा है, जिसमें मानव जीवन के दुःख, पीड़ा, शोषण, अन्याय तथा असमानताओं के प्रति गहन संवेदना अभिव्यक्त होती है। संतों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों तथा अमानवीय प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए करुणा, दया, अहिंसा, प्रेम, परोपकार तथा सहयोग जैसे मानवीय मूल्यों को जीवन का आधार बनाने का संदेश दिया। इसी व्यापक मानवीय दृष्टिकोण के कारण संत साहित्य को लोकमंगल की साहित्यिक परंपरा कहा जा सकता है।

लोक शब्द का सामान्य अर्थ जनसमुदाय से है, किंतु संत साहित्य में इसका अर्थ केवल मनुष्य समाज तक सीमित नहीं है। यहां लोक में समस्त प्राणी-जगत और प्रकृति भी सम्मिलित हैं। लोक का आशय उस व्यापक संसार से है जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति तथा अन्य सभी जीवधारी समान रूप से सम्मिलित हैं। मंगल शब्द का अर्थ कल्याण, शुभ, हित तथा सुख से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार लोकमंगल का तात्पर्य हुआ- समस्त लोक का कल्याण। संत परंपरा में लोकमंगल की भावना का अर्थ किसी एक वर्ग, जाति या समुदाय के हित तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समस्त सृष्टि के कल्याण की अवधारणा है।

लोक की पीड़ा-बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक मंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।[1] मानव के कल्याण की प्रवृत्ति ही मंगल है। स्पष्ट है कि मंगल की सम्यक् स्थापना क्षमा, दया आदि साधुता की एकांगी प्रवृत्तियों द्वारा ही संभव नहीं है, क्योंकि बहुत से दुष्ट और क्रूर हृदय इन मृदुल प्रवृत्तियों से अप्रभावित होकर लोक उत्पीड़न में संलग्न रहते हैं। उनका प्रतिविधान करने के लिए संयत प्रकाशन लोकमंगल की स्थापना के लिए अभीष्ट है।[2] अतः लोक में मंगलकारी तत्त्वों की स्थापना तथा अमंगलकारी तत्त्वों का खण्डन आवश्यक है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लोक मंगल की भावना स्वार्थ से परे परार्थ तथा जनसामान्य के उत्कर्ष पर आधारित है। मानव मात्र का कल्याण, प्राणी मात्र के प्रति क्षमा एवं दया तथा उनके प्रति आत्मीय व्यवहार, दुष्टों व अत्याचारों का विरोध सभी के आनन्द एवं उन्नति की राह प्रशस्त करना ही लोक मंगल है।

मध्यकालीन भारत की सामाजिक स्थिति अत्यंत विषम थी। जाति-भेद, ऊँच-नीच, धार्मिक कट्टरता, कर्मकाण्ड, हिंसा तथा शोषण व्यापक रूप से फैले हुए थे। साधारण जन इन कुरीतियों के बोझ तले दबा हुआ था। ऐसे समय में संतों ने जनभाषा में उपदेश देकर

सामान्य जनता को चेतना प्रदान की। उन्होंने ईश्वर को निर्गुण, निराकार तथा सर्वव्यापक मानते हुए यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान है। अतः किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाना ईश्वर को कष्ट पहुँचाने के समान है। इस प्रकार संतों की वाणी में आध्यात्मिकता के साथ-साथ गहन मानवतावाद का स्वर दिखा देता है। तुलसीदास इस मानवीय दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- **'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान। तुलसी दया न छोड़िये जा घट तन में प्राण।'** अर्थात् दया धर्म की जड़ है और अहंकार पाप की जड़ है। यह दोहा इस तथ्य को रेखांकित करता है कि लोकमंगल का आधार दया है।

गुरु जाम्भोजी ने अपनी वाणी के द्वारा लोक हृदय की अभिव्यक्ति करते हुए लोक मंगल की साधना की है। लोक मंगल की भावना ही पशु तुल्य भावों से मानव को ऊपर उठाकर मानवीय भाव ग्रहण कर उनके अनुरूप आचरण करने में सक्षम बनाती है। गुरु जाम्भोजी की वाणी में लोक मंगल के भावों की पीयूष वर्षा हुई है, जिसने अमंगल से पीड़ित लोक को गरल तुल्य दु:खों से मुक्त करवाकर सुखद सात्विक जीवनयापन की आधार भूमि तैयार की। जाम्भोजी ने करुणा के भाव के साथ-साथ प्राणी मात्र में सामंजस्य, अपनत्व तथा समता की स्थापना हेतु 'प्रेम' का संदेश दिया। संसार में सबसे श्रेष्ठ अगर कोई साथ या संबंध है तो वह प्रेम, स्नेह का संबंध है। हम प्राणी मात्र के प्रति प्रीति रखकर ही लोक का कल्याण कर सकते हैं। उत्तम संग सनेहुं।[3] अर्थात् स्नेह का संबंध ही उत्तम है क्योंकि वही मानव मन में करुणा का संचार करता है। करुणा की भावना मानव में अहिंसा वृत्ति हेतु आवश्यक है। लोकमंगल की भावना में किसी प्राणी के प्रति हिंसा वृत्ति न हो। तुलसीदास परोपकार को सर्वोच्च धर्म मानते हैं- **'परहित सरिस धरम नहि भाई'**। अर्थात् परोपकार के समान को धर्म नहीं। यह कथन संत परंपरा के लोक कल्याणकारी स्वर को और पुष्ट करता है। संतों की दृष्टि में सच्ची भक्ति वही है, जिसमें अहंकार का त्याग और करुणा का विकास हो। गुरु नानक देव जी कहते हैं- **'पहिला मरणु कबूलि, जीवण की छड़ी आस'**।[4] अर्थात् सबसे पहले अपने अहंकार को मारो और सांसारिक आसक्तियों का त्याग करो। इस प्रकार संत परंपरा भक्ति को आत्मशुद्धि और लोक कल्याण से जोड़ती है।

भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आयाम अहिंसा और जीव दया है। संतों का मानना है कि समस्त प्राणी ईश्वर की सृष्टि हैं और सभी को जीवन का समान अधिकार प्राप्त है। किसी भी जीव को कष्ट पहुँचाना केवल नैतिक अपराध नहीं, बल्कि आध्यात्मिक पतन का कारण भी है। इसी कारण संतों ने अहिंसा को धर्म का मूल तत्व स्वीकार किया। कबीरदास कहते हैं- **'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय'**। अर्थात् केवल शास्त्र पढ़ लेने से कोई ज्ञानी नहीं बनता; जो प्रेम को समझ ले वही सच्चा ज्ञानी है। यहाँ प्रेम का तात्पर्य करुणा और अहिंसा से है। गुरु नानक देव जी भी जीवमात्र की समानता पर बल देते हैं- **'सभना जीआ का इकु दाता, सो मैं विसरि न जाई'**।[5] अर्थात् सभी जीवों का एक ही दाता है, उसे कभी मत भूलो। गुरु जाम्भोजी ने अपनी वाणी में जीव दया पर अत्यधिक बल दिया। वे अहिंसा धर्म के परम समर्थक थे। उनके 29 नियमों में जीव दया तथा वृक्षों की रक्षा धर्म के पालन को तो अनिवार्य माना ही जाता है। यहाँ तक की पानी, वाणी[6], ईंधन, दूध आदि पदार्थों को छानकर[7] प्रयुक्त करने की बात कही गई है। गुरु जाम्भोजी लोक-व्यवहार को अच्छे से जानने वाले थे। लोक पानी, दूध तथा जलाने की लकड़ी आदि प्रयोग करते हुए असावधानी रखते हैं

जिससे सूक्ष्म जीव समाप्त हो जाते हैं। अतः इन जीवों के प्रति अहिंसा का संदेश देते हुए दैनिक जीवन में सावधानीपूर्वक पानी, दूध छानकर तथा ईंधन को साफ करके प्रयुक्त कर असंख्य जीवों की रक्षा की जा सकती है। जाम्भोजी वाणी के द्वारा भी किसी के प्रति हिंसा करने के तीव्र विरोधी थे। उन्होंने कहा कि व्यक्ति को सदैव मधुर एवं सत्य वचन बोलने चाहिए। मनुष्य अपनी वाणी के माध्यम से भी अगर किसी को कष्ट पहुँचाता है तो वही भी एक प्रकार की हिंसा है। अतः व्यक्ति को मन, वचन एवं कर्म सभी प्रकार से अहिंसा का पालन करना चाहिए- **सुबचन बोल सदा सुहलाली**।[8]

विश्नोई पंथ जीव दया तथा वनस्पति रक्षण हेतु विख्यात है। गुरु जाम्भोजी ने लोक मंगल की स्थापना हेतु हिंसा करने की प्रवृत्ति रखने वालों को चेतावनी देते हुए सावधान किया-

सुंणि रे काजी सुंणि रे मुल्ला सुंणि रे बकर कसाई।
किण री थरपी छाळी रोसो किण री गाडर गाई?
कांढै भागै करक दुहेली जायौ जीव न घाई।[9]

धर्म का ज्ञान देने वाले काजी और मुल्ला तथा जीवों को काटने वाले कसाई में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि कसाई तो अज्ञानी है तथा यह उसका व्यवसाय है, लेकिन तुम लोग धर्म के नाम पर हिंसा जैसा कुकृत्य करवाते हो, जो अनुचित है। तुम धर्म एवं ज्ञान के ज्ञाता हो, तुम्हें तो मालूम होना चाहिए कि गाय, बकरी तथा भेड़ किसकी रचना है? भगवान द्वारा सृजित इन निरीह एवं अबोल जीवों को मारकर सुख तथा स्वर्ग (बहिश्त) की आशा करना व्यर्थ है-

चरि फिरि आवै सहजि दुहावै तिंहका खीर हलाली।
तिहंकै गळै करद क्यौं सा'रो?
थे पढि गुंणि रहिया खाली।[10]

अर्थात् जो दुधारू पशु जंगल में चल-फिर कर भोजन ग्रहण कर लेता है तथा सहजता से दूध दे देता है, उससे प्राप्त दूध आदि पदार्थ तो ग्रहण करना जायज है, परन्तु इन निरपराध पशुओं के गले पर छुरी चलाना अथवा उनको मारना कहाँ तक उपयुक्त है? जो विद्वान या ज्ञानी है, उनके इस तरह के कृत्य अक्षम्य है। इनका यह ज्ञान चिन्तन मनन के अभाव में शून्य ही रहा। जो ज्ञान व्यक्ति में मानवीय गुणों को स्थापित न कर सके ऐसा ज्ञान व्यर्थ ही है।

लोकमंगल की भावना का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष करुणा और दया है। संतों के अनुसार दया के बिना धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती। करुणा मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ की ओर ले जाती है। समाज में अहिंसा की स्थापना तभी संभव है, जब व्यक्ति के मन में दया की भावना हो। दया तथा करुणा लोकमंगल की भावना को दृढ़ता प्रदान करते हैं। दया तथा करुणा के द्वारा सदैव दूसरों का दुःख महसूस होता है। जब हम दूसरों के दुःख में उनके सहायक सिद्ध होंगे तो स्वतः ही लोक की भलाई संभव हो जायेगी। दया तथा करुणा मानवीय धर्म की आधारशिला है। करुणा और दया का संबंध हृदय से है, बुद्धि से नहीं। मानव की पूर्णता तथा मुक्ति की दशा तब कहलायेगी, जब व्यक्ति मनसा वाचा कर्मणा रूपी दया धर्म का पालना करता हो। दया हृदय के द्रवण की अवस्था है। दया युक्त व्यक्ति निर्मल, पावन, सरल, दोष रहित तथा शिशु के समान कोमल हृदय होता है। ऐसे दयाशील व्यक्ति मनुष्य ही परब्रह्म अनुभूति करने में सक्षम हो पाता है।

गुरु जाम्भोजी ने दया रूपी मानवीय धर्म की स्थापना हेतु कहा- **दया धर्म थापले निज बाला ब्रह्मचारी**। जब मनुष्य दया धर्म का सच्चा साधक हो जाता है, तब उसके भीतर का अंहकार एवं मन का मैल स्वतः ही समाप्त हो जाता है। जो ईश्वर का सच्चा साधक होता है, वह दयालु ईश्वर (रहीम) द्वारा निर्मित

भिन्न-भिन्न प्राणियों को ईश्वर का अंश मानता है। वही परम तत्त्व की प्राप्ति कर सकता है। व्यक्ति को सदैव अपने शरीर, मन तथा कार्यों में सर्वत्र परम तत्त्व के दर्शन करते हुए सत्कार्य करने चाहिए। सर्वत्र ईश्वर का अस्तित्व अनुभूत करने वाले कभी दया विहीन नहीं हो सकते। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है- **पर उपकार सरिस न भलाई, पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई।**[11] अतः परोपकार से बढ़कर कोई भलाई नहीं है, वहीं दूसरों को पीड़ा देने से अधिक कोई हीन कार्य नहीं है। इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि करुणा और दया लोकमंगल की आधारशिला हैं।

संत परंपरा में लोकमंगल की स्थापना के लिए पंच विकारों- काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के त्याग पर विशेष बल दिया गया है। ये विकार मनुष्य को स्वार्थ और हिंसक बना देते हैं।

कबीरदास कहते हैं-

'काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान।
तब लगि हरि भक्ति न हो, कहै कबीर सुजान।'

गुरु जाम्भोजी ने कहा है कि मनुष्य उन्माद, अभिमान तथा पंचेद्रियों के विषय-विकार से मित्रता तोड़ दे, तभी उसका मंगल हो सकता है। ये विकार दुष्ट तथा शैतान की भाँति व्यक्ति को कुपथगामी बनाते हैं। ये विकार मानव जीवन के मार्ग की बाधा है। ये विकार मानव की बुद्धि को भ्रष्ट कर उसमें असात्विक दुर्गणों का संचार करते हैं। अतः व्यक्ति को समस्त मानव समाज में सत्भाव की व्याप्ति करनी है, तो सर्वप्रथम इन पंच विकारों से स्वयं को मुक्त होना होगा। मनुष्य को सार्वभौमिक कल्याण हेतु काम, क्रोध, अभिमान तथा उन्माद आदि दुष्टों से मित्रता तोड़नी होगी।

उमाज गुमाज पंज गंज यारी,
रहिया कुपहिया सैतांन की यारी।[12]

काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि मनोविकार लोकमंगल के अवरोधक हैं। अतः इनका शमन करना अति आवश्यक है। इनके शमन के बिना समाज में लोक मंगल की भावना उत्पन्न हो सकती है। अतः स्पष्ट होता है कि पंच विकारों का त्याग एवं आत्मसंयम लोकमंगल के आवश्यक तत्व है।

लोकमंगल की भावना प्रेम और परोपकार के बिना पूर्ण नहीं हो सकती। संतों की सृष्टि में प्रेम ही संसार का मूल तत्व है। रविदास जी कहते हैं- **'ऐसा चाहूं राज मैं, जहां मिले सबन को अन्न। छोट-बड़ो सब सम बसैं, रविदास रहे प्रसन्न॥'** दादू दयाल कहते हैं- **'प्रेम पंथ चल साधु का, द्वेष पंथ संसार'**। मध्यकाल में समाज पतनोन्मुख था। लोग एक-दूसरे का अहित करने में लग रहते थे। अपने-अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति हेतु दूसरों का अनिष्ट करने में नहीं हिचकते थे। ऐसे दुर्भावनाग्रस्त लोक में सत्भाव तथा मंगल हेतु परोपकार की आवश्यकता थी। गुरु जाम्भोजी ने लोगों को परोपकार की महत्ता से परिचित कराया। परोपकार मानवीय धर्म की नींव है। परोपकार की महिमा विशिष्ट है। बिना स्वार्थ भावना, अंहकार रहित तथा यशलिप्सा विहीन होकर दूसरों की भलाई करना ही लोकमंगल है। परोपकार मानव कल्याण में सच्चा सहायक है। गुरु जाम्भोजी ने परोपकार को मेघ से बरसने वाले जल से उपमित किया है। परोपकार करने वाला व्यक्ति बादल की भाँति होता है। बादल अपना सम्पूर्ण जल त्रस्त पृथ्वी को तृप्त करने हेतु समर्पित कर देता है, वैसे ही परोपकारी व्यक्ति अपना सर्वस्व लोक के मंगल हेतु त्याग देता है। बादल का पानी परोपकार के लिए बरसता है, उसी तरह परोपकारी मनुष्य की दृष्टि में प्राणी मात्र बिना किसी भेदभाव के समान होता है। **संसार मां उपगार ऐसा, ज्यौं घण बरसंता नीरूं।**[13] वे कहते हैं कि व्यक्ति को संसार में उपकार स्वाभाविक भाव से करना चाहिए। परोपकार कार्य अत्यंत सहजता -पूर्वक तथा प्रेमपूर्ण होना चाहिए जैसे मानव या पशु

शरीर में कहीं भी खरोंच लग जाए तो रक्त प्रवाहित होने लगता है लेकिन उसी शरीर में से मातृत्व सुख की स्थिति में स्वतः ही दुग्ध की उत्पत्ति होने लगती है। रक्त निर्मित शरीर के मध्य जिस प्रकार दूध की उत्पत्ति होती है वैसे परोपकार मानव के मन में सहज एवं स्वाभाविक रूप से स्वतः उत्पन्न होना चाहिए।[14] इन पंक्तियों में सामाजिक न्याय, समरसता और प्रेम की कामना स्पष्ट दिखाई देती है।

भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष पर्यावरण चेतना के रूप में भी दिखाई देता है। संतों ने प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु न मानकर उसे जीवनदायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया। वृक्ष, जल, वायु और भूमि ये सभी जीवन के आधार हैं। संतों की दृष्टि में इनका संरक्षण करना मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है, क्योंकि प्रकृति के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। गुरु जाम्भोजी की वाणी में पर्यावरण संरक्षण का स्वर अत्यंत स्पष्ट है। गुरु जाम्भोजी ने मरूस्थल के लोगों की दीन-हीन अवस्था से साक्षात्कार किया था। मरूस्थल में निरन्तर अकाल का प्रमुख कारण वनस्पति का नहीं होना था। अधिकांश लोगों की आजीविका का आधार पशुपालन एवं कृषि ही था। लेकिन मरूवासी अपनी अज्ञानता के कारण अपनी आवश्यकता एवं सुरक्षा को नहीं समझ पा रहा था तथा निरन्तर आत्मघाती कार्यों में रत था। प्राकृतिक अनुदारता से ग्रस्त इस धरती को वह अपनी जरूरत हेतु और अधिक उजाड़, नग्न एवं वीरान बना रहा था। मध्यकाल की इस भोली-भाली, अशिक्षित जनता में चेतना के संचार का क्रांतिकारी कार्य गुरु जाम्भोजी ने किया। अकाल की स्थिति में यहाँ के लोग अपने जीवन तथा पशुओं की रक्षा हेतु इस सूखी रसा के ढूंठ पेड़ों को भी नहीं छोड़ता था। तब जाम्भोजी ने ऐसे लोगों को अपना गुरुत्व प्रदान करते हुए पेड़ों एवं प्रकृति की रक्षा तथा प्राणी मात्र की सुरक्षा का संदेश दिया। उन्होंने 29 नियमों की आचार -संहिता में दो नियम प्राकृतिक संतुलन हेतु दिए, **'जीव दया पाळणी अर रूंख ळीलो नहीं घावै'**।[15] यद्यपि उनके समय पर्यावरण प्रदूषण, ओजोन परत में छिद्र तथा ग्लोबल वार्मिंग जैसी कोई समस्या नहीं थी, फिर अकाल एवं अभाव की समस्या तो थी ही। उन्होंने तभी भांप लिया था कि मानव के विकास एवं उसके अस्तित्व के लिए प्रकृति के विभिन्न घटकों का परस्पर संतुलन आवश्यक है।

वर्तमान में 'ग्लोबल वार्मिंग' पर्यावरणीय असंतुलन तथा वन्य जीवों की घटती संख्या जैसी ज्वलन्त समस्याओं का निराकरण सम्पूर्ण विश्व के वैज्ञानिक एवं पर्यावरण प्रेमी भी आज वही बता रहे हैं, जो कि जाम्भोजी ने अपनी वाणी में पाँच शताब्दी पूर्व ही प्रतिपादित कर दिये थे। गुरु जाम्भोजी ने 'जम्भवाणी' में वृक्षों का महत्त्व बताया है। जाम्भोजी ने कहा- **'मोर धरती ध्यान, बनस्पति बासो'**[16] अर्थात् यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे ध्यान में तथा मेरा निवास वनस्पति में है। वनस्पति को काटना, वनस्पति पर प्रहार करना अर्थात् साक्षात् गुरु जाम्भोजी पर प्रहार करना है। विश्नोई पंथानुयायियों ने वनस्पति की रक्षा के नियम का अक्षरशः पालन किया है क्योंकि वनस्पति में ही जाम्भोजी का वास है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त वृक्षों तथा इस पृथ्वी पर निर्भर है। अन्न, प्राणवायु ऑक्सीजन, वस्त्र निर्माण की मूल सामग्री, औषधि, मकान निर्माण सामग्री, पशु-पक्षियों का जीवनयापन, यहाँ तक लेखन हेतु कागज आदि सभी प्रकृति द्वारा ही प्रदत्त है अर्थात् हमारी सभी मूलभूत आवश्यकताओं तथा भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति का मूल स्त्रोत प्रकृति ही है। प्रकृति एवं पर्यावरण मनुष्य की आधारभूत आवश्यकता है। मनुष्य के लिए पर्यावरण संरक्षण वर्तमान की महत्ती आवश्यकता है लेकिन विश्नोई समाज ने इस तथ्य को गुरु जाम्भोजी की कृपा

से 5 सदी पूर्व ही जान लिया। जांभाणी साहित्य में पर्यावरण को जीवन का अभिन्न अंग माना गया है तथा वृक्षों को प्राणवान, उनके बिना जीवन की कल्पना भी संभव नहीं है। आज विश्नोई पंथ का प्रत्येक अनुयायी पर्यावरण रक्षा को मानता ही नहीं अपितु अपने आचरण एवं व्यवहार में जीता भी है। बिना वनस्पति और पेड़-पौधों के मनुष्य जीवन की कल्पना दुष्कर है। विश्नोई समाज में पेड़ों की रक्षा व्यावहारिक जीवन का अनिवार्य अंग है। गुरु जाम्भोजी लोकदृष्टा व लोकसृष्टा थे। गुरु जी अपना निवास स्थान वृक्ष छांव तले बनाते हैं, वे अपनी वाणी में कहते हैं- **'हरी कंकहड़ी मंडप मैड़ी, जहां हमारा वासा'**।[17] लेकिन हमने अपने महलों एवं अत्याधुनिक अट्टालिकाओं के निर्माण एवं विलासिता पूर्ण जीवन-शैली को अंगीकार कर पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुंचाई है। गुरु जाम्भोजी ने पर्यावरण संरक्षण को धर्म से जोड़कर और अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया। उनकी पर्यावरणीय अवधारणा न केवल मध्ययुग के अनुरूप थी अपितु कालजयी एवं शाश्वत है। यह पद जाम्भोजी को पर्यावरण-संरक्षण का अग्रदूत सिद्ध करता है।

लोकमंगल की भावना का एक और महत्वपूर्ण पक्ष सामाजिक समरसता है। लोकमंगल की भावना संतों के सामाजिक चिंतन में भी स्पष्ट दिखाई देती है। उन्होंने जाति-व्यवस्था, छुआछूत और ऊँच-नीच का विरोध किया। संतों की दृष्टि में समाज की सुदृढ़ता तभी संभव है जब सभी मनुष्य समान अधिकारों और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करें। संतों ने जाति-भेद, ऊँच-नीच और धार्मिक कट्टरता का विरोध किया। उनकी दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं और सभी को सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार है। कबीरदास कहते हैं- **'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान'**। गुरु अर्जन देव जी कहते हैं- **'कोई बोले राम राम, कोई खुदाए। कोई सेवै गोसाईं, कोई अल्लाहे'**। लोक धर्म स्थापक जाम्भोजी ने लोक उपमान का सटीक प्रयोग करते हुए धर्म के अहंकार से ग्रसित व्यक्ति किस प्रकार समाज के विकास में बाधक होता है, इसके बारे में कहा है- **'दीन गुमांन करैलो खाली, ज्यौं कंण घातै घुंण हांणी'**।[18] गुरु जाम्भोजी के अनुसार काम, क्रोधादि विकारों को वश में करते हुए ईश्वर का स्मरण करना ही जीवन का मूल उद्देश्य है। **विसन विसन भंणि अजर जरीलौ, अै जीवंण का मूळूं।**[19] लोक में जिस व्यक्ति ने काम, क्रोधादि अजरों को जलाकर मन निर्मल कर लिया, वह लोक का तथा ईश्वर का सच्चा साधक हो सकता है। जीवन का मूल लक्ष्य लोक का मंगल है। जिसने इस तथ्य को जान लिया, वही जीवन के तत्त्वज्ञान से परिचित हो गया। धर्म की संकीर्णता मानवीय धर्म की स्थापना में सर्वाधिक विकट बाधा है। इन पंक्तियों से संतों की उदार और समन्वयकारी दृष्टि स्पष्ट होती है।

आज के युग में जब संसार हिंसा, असहिष्णुता, उपभोक्तावाद और पर्यावरण संकट से जूझ रहा है, तब संत परंपरा की लोकमंगलकारी शिक्षाएँ और अधिक प्रासंगिक हो जाती हैं। जाम्भोजी, कबीर, नानक, तुलसी, दादू और रैदास जैसे संतों की वाणी मानवता को प्रेम, करुणा और सह-अस्तित्व का मार्ग दिखाती है। सच्चा विकास वही है जिसमें मनुष्य के भीतर नैतिकता, संवेदना और करुणा का विकास हो। केवल भौतिक प्रगति लोकमंगल का पर्याय नहीं हो सकती।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना एक समग्र जीवन-दृष्टि के रूप में विकसित हुई है। यह जीवन-दृष्टि मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ की ओर ले जाती है और उसे समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए प्रेरित करती है। भारतीय संत परंपरा की लोक-मंगलकारी चेतना केवल नैतिक उपदेशों तक सीमित

नहीं है, बल्कि वह मनुष्य के संपूर्ण जीवन–व्यवहार को रूपांतरित करने की शक्ति रखती है। संतों ने जीवन को साधना का क्षेत्र बनाया और साधना को जीवन से जोड़ दिया। उनके अनुसार साधना वही है जो व्यवहार में उतर सके। यदि कोई व्यक्ति ध्यान, जप या तप तो करता है, किंतु समाज के दु:खी और पीड़ित वर्ग के प्रति संवेदनशील नहीं है, तो उसकी साधना अधूरी मानी जाएगी।

संत परंपरा का यह दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की करुणामूलक परंपरा से जुड़ा हुआ है। उपनिषदों में जिस 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना व्यक्त हुई है, वही भावना संत साहित्य में लोकमंगल के रूप में विकसित हुई। संतों ने इस भाव को जनभाषा में प्रस्तुत कर उसे लोकजीवन से जोड़ा।

गुरु जाम्भोजी की वाणी इसी परंपरा की सशक्त कड़ी है। उन्होंने जीवन को करुणा, संयम और सेवा के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है- जीवों की रक्षा और प्रकृति का संरक्षण।

जिन पंचमहाभूतों से सृष्टि की रचना हुई है, जिनसे हमारी रक्षा होती है, वे आज प्रदूषण की चरम सीमा पार कर चुके हैं। वर्तमान में धरती, वायु, जल, आकाश एवं प्रकाश आदि सभी प्रदूषित हो चुके हैं। जाम्भाणी साहित्य में पर्यावरण के पांच तत्वों का परस्पर समन्वय बताया गया है। **आकाश वायु तेज जल धरणी। तामा सकल सृष्टि की करणी।**[21] इन सब के प्रदूषण से निपटने व संतुलन में वृक्षों की भूमिका महत्वपूर्ण है। पर्यावरण संरक्षण को महत्व देते हुए तुलसीदास भी लिखते हैं- **'रीझि–खीझि गुरुदेव सिष सखा सुविहित साधू। तोरि खाहु फल होई भलु तरु काटे अपराधू॥'** अर्थात् तुलसीदास ने वृक्ष से फल खाना तो उचित माना, लेकिन वृक्ष को काटना अपराध माना है।

भक्ति की संत परंपरा में ईश्वर को केवल मंदिर, मस्जिद या तीर्थ स्थानों तक सीमित नहीं माना गया, बल्कि उसे प्रत्येक जीव के भीतर विद्यमान बताया गया। इस दृष्टि से जीवदया ईश्वर–भक्ति का अनिवार्य अंग बन जाती है। जाम्भोजी, कबीर और नानक सभी इस बात पर सहमत हैं कि जो व्यक्ति जीवों को कष्ट पहुँचाता है, वह ईश्वर का सच्चा भक्त नहीं हो सकता। गुरु जाम्भोजी तीर्थ, व्रत एवं बाह्याचारों को बिल्कुल तथ्यहीन एवं निरर्थक मानते थे। वे अनुभूत एवं प्रत्यक्ष सत्य के संवाहक थे। उस समय समाज में तीर्थाटन को धार्मिक कर्मकाण्ड के रूप में मान्यता थी। जाम्भोजी के अनुसार मनुष्य का अन्तर्मन निर्मल एवं पवित्र होना चाहिए। अन्त:करण में निहित शुद्ध भाव ही व्यक्ति व समाज का कल्याण कर ईश्वर के सामीप्य का लाभ दिला सकता है। तीर्थ के संबंध में उनका मत अत्यंत स्पष्ट है- **'अड़सठ तीरथ हिरदा भीतर, बाहर लोका चारूं'**।[22] समस्त प्रकार के तीर्थ स्थानों का निवास मनुष्य के हृदय में ही है। व्यक्ति द्वारा तीर्थाटन पर जाना तो मात्र बाह्य लोक–आचरण है, दिखावा है।

जाम्भोजी का किसी भी धर्म के प्रति अनावश्यक लगाव नहीं था। उन्हें जिस किसी भी धर्म में मनुष्य को पंगु बनाने वाली अंधविश्वास की प्रवृत्ति दिखी, उसका अकाट्य तर्कों के माध्यम से विरोध जताकर, उनकी अनावश्यकता को सिद्ध किया। वे मुस्लिम धर्म में हज–काबा के तीर्थ के संबंध में कहते हैं- **'दिल साबत हज काबो नेड़े'**।[23] अगर व्यक्ति का हृदय साफ है तो हज–काबा जैसे पवित्र स्थान दिल में ही स्थित हैं।

जिस प्रकार घुन नामक जीव अनाज के दानों को थोथा कर समाप्त कर देता है, वैसे ही मनुष्य को धर्म एवं मजहब का अहंकार (गुमान) थोथा कर देता है। समाज को भीतर ही भीतर निस्सार बना देता है। समाज यथा तथ्य को समझे बिना अंधानुकरण करता

है, जिसके कारण व्यक्ति धर्म के वास्तविक तथ्य से भिज्ञ नहीं हो पाता है। हिंदू एवं मुस्लिम दोनों पंथों का मूल एक ही है– मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा करना। दोनों पंथों का मूल संदेश एक ही है– मानव मूल्यों के अनुरूप समाज का निर्माण करना। मानव के कल्याण के लिए दोनों धर्मों की राह एक ही है। **'हिंदू मुसलमांणां, दोय पंथ नांहीं जूवा जूवा'**।[24] 'जम्भवाणी' में अल्लाह एवं ईश्वर को एक ही माना है। उन्होंने समाज में समन्वय का सूत्रपात करते हुए कहा– **'अलाह अलेख अडाळ अजूंनी सिंभू'**।[25]

संत परंपरा में स्त्री को भी सम्मानता का स्थान दिया गया है। उसे केवल भोग की वस्तु न मानकर शक्ति और करुणा का प्रतीक माना गया। जाम्भोजी ने युगों से अपने अस्तित्त्व हेतु संघर्षरत नारी को मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनका मानना था कि नारी को मात्र लिंग के रूप में न देखकर मानव के रूप में देखा जाए। नारी में पुरुष की भांति श्वास चलता है। दोनों का एक समान शरीर है, वैसी ही जीवात्मा है, फिर उनके मध्य भेद व्यर्थ है। यह दृष्टिकोण भी लोकमंगल की भावना से जुड़ा हुआ है, क्योंकि किसी भी समाज का विकास तब तक संभव नहीं है जब तक उसकी आधी आबादी को समान अधिकार और सम्मान न मिले।

आधुनिक संदर्भों में संत परंपरा का लोकमंगल –दर्शन और अधिक प्रासंगिक हो जाता है। आज संसार तकनीकी दृष्टि से अत्यंत उन्नत हो गया है, किंतु नैतिक मूल्यों का ह्रास दिखाई देता है। हिंसा, आतंकवाद, पर्यावरण संकट, आर्थिक असमानता और मानसिक तनाव जैसी समस्याएँ मानवता के सामने गंभीर चुनौती के रूप में उपस्थित हैं। इन समस्याओं का समाधान केवल कानून या तकनीक से संभव नहीं है। इसके लिए मनुष्य के भीतर करुणा, दया और नैतिकता का विकास आवश्यक है। संत परंपरा का लोकमंगल–दर्शन मनुष्य को आंतरिक रूप से परिवर्तित करने की क्षमता रखता है। जब मनुष्य भीतर से परिवर्तित होगा, तभी बाह्य समाज भी परिवर्तित होगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना केवल ऐतिहासिक महत्व की वस्तु नहीं है, बल्कि वह आज भी मानवता के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकती है।

भारतीय संत परंपरा की लोकमंगलकारी चेतना मूलतः मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ की ओर अग्रसर करने की चेतना है। संतों ने जीवन को केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित न मानकर उसे नैतिक, आध्यात्मिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया के रूप में देखा। उनके अनुसार मनुष्य का वास्तविक विकास तभी संभव है जब उसके भीतर करुणा, दया, प्रेम और सह–अस्तित्व की भावना विकसित हो।

संतों की वाणी बार–बार इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि संसार के दु:ख का मूल कारण मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ है। जब मनुष्य अपने को ही केन्द्र मान लेता है, तब वह दूसरों के दु:ख के प्रति उदासीन हो जाता है। संत परंपरा इस स्वार्थपूर्ण दृष्टि का विरोध करती है और मनुष्य को 'मैं' से 'हम' की ओर ले जाती है। यही परिवर्तन लोकमंगल की भावना का आधार है।

गुरु जाम्भोजी की वाणी में यह चेतना अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने जीवन को संयम, सेवा और करुणा के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। उनके द्वारा प्रतिपादित नियम केवल धार्मिक अनुशासन नहीं हैं, बल्कि सामाजिक और पर्यावरणीय नैतिकता के सूत्र हैं। जाम्भोजी का लोकमंगल–दर्शन भारतीय संत परंपरा की उस महान धारा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें कबीर, नानक, दादू, तुलसी और रैदास जैसे संतों ने मानवता, समरसता और प्रेम का संदेश दिया।

इन सभी संतों की वाणी में भिन्न-भिन्न प्रतीकों और शैली के बावजूद मूल भाव एक ही है- समस्त सृष्टि का कल्याण।

आज के वैश्विक परिदृश्य में संत परंपरा की लोकमंगलकारी चेतना और अधिक प्रासंगिक हो गई है। पर्यावरण संकट, सामाजिक असमानता, युद्ध और हिंसा जैसी समस्याएँ मानव अस्तित्व के लिए गंभीर खतरा बन चुकी हैं। इन समस्याओं का समाधान केवल बाह्य साधनों से संभव नहीं है। इसके लिए मनुष्य को भीतर से बदलना होगा। संत परंपरा का लोकमंगल-दर्शन इस आंतरिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करता है। संतों की शिक्षाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि सच्चा धर्म वही है जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है, न कि तोड़ता है। सच्ची भक्ति वही है जो जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न करें। सच्चा ज्ञान वही है जो अहंकार को नष्ट करें और सच्ची साधना वही है, जो लोक-कल्याण में परिणत हो। इस प्रकार भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना एक समग्र जीवन-दृष्टि के रूप में विकसित हुई है। यह जीवन-दृष्टि मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर परमार्थ की ओर ले जाती है और उसे समस्त सृष्टि के कल्याण के लिए समर्पित होने की प्रेरणा देती है।

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संत परंपरा में लोकमंगल की भावना केवल अतीत की विरासत नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की आवश्यकता है। यदि आधुनिक समाज संतों की इन शिक्षाओं को आत्मसात कर ले, तो मानवता एक अधिक शांतिपूर्ण, समरस और करुणामय विश्व की ओर अग्रसर हो सकती है।

2 भारतीय ज्ञान परंपरा और गुरु जम्भेश्वर जी महाराज

डॉ. रामस्वरूप, असिस्टेंट प्रोफेसर
गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

भारतीय बौद्धिक चेतना जो संपूर्ण विश्व में भारतीय ज्ञान परंपरा के रूप में विकसित हुई है। जिसका मूल आधार भारतीय धर्म ग्रंथ हैं, जिनमें वेद, पुराण, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, संहिताएं इत्यादि शामिल है। ज्ञान परंपरा के इस वांग्मय ने भारतीय ज्ञान परंपरा को सुदृढ़ किया। यह भारतीय ज्ञान परंपरा बौद्धिक चेतना का सतत् संचार अनादि काल से करती आ रही है। भारतीय भाषाओं के मध्यकालीन साहित्य इतिहास में इन समस्त भारतीय वांग्मय में निहित बौद्धिक चेतना को कुछ नवीनता के साथ लौकिक भाषा में जन सामान्य के लिए संत-महात्माओं, ऋषि-मुनियों एवं ज्ञानी-महापुरुषों ने अपनी वाणी के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनका चिंतन भी भारतीय चिंतन परंपरा से अनुस्यूत होने की वजह से सर्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। इनकी वाणियां मनुष्यों के सर्वाधिक कल्याण हेतु अत्यंत ही युक्तियुक्त एवं प्रासंगिक है। इन संत-महापुरुषों एवं भारतीय मनीषियों की चिंतन परंपरा ने मानव की बौद्धिक चेतना को जाग्रत करते हुए मनुष्य के अभ्युदय एवं नि:श्रेयस हेतु असाधारण साधन के रूप में भूमिका अदा की। इसी चिंतन परंपरा से भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परंपरा तथा भारतीय दार्शनिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के माध्यम से वैश्विक स्तर पर भारत को गौरवान्वित किया।

भारत प्रारंभ से ही एक धर्म प्रधान राष्ट्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है। भारतीय चिंतन परंपरा पर विचारधारा सदा से आदर्श की भावभूमि पर प्रवाहित होती जा रही है, जिसका मुख्य उद्देश्य लोककल्याण है यहां की पावन धरती में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, जम्भेश्वर जैसे कई दिव्य-अलौकिक चरित्र, उपदेश एवं उनकी अवधारणा कण-कण में समाहित है। ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म, गुरु, जगत, कर्म, मोक्ष आदि की अवधारणा को यहां के निवासी युगों-युगों से आत्मसात् करते आ रहे हैं। चूंकि मनुष्य का स्वभाव ही अध्यात्म है और प्रत्येक शरीर में परमात्मा-परब्रह्म का अंश विद्यमान है। जब मनुष्य को आत्मा का ज्ञान होता है तो वह सांसारिक राग-द्वेष से मुक्त होकर ऊपर उठकर अंतर्मन में सत्य को धारण करता है, तब उसे दिव्य आनंद की अनुभूति होती है। अध्यात्म में ज्ञान, कर्म और उपासना का विशेष स्थान है। यह भगवद् भक्ति का मूल आधार है।

गुरु जंभेश्वर जी की वाणी में भारतीय आध्यात्मिक चिंतन के विविध आयाम देखने को मिलते हैं जिनमें आत्मा-परमात्मा, जगत, कर्म सिद्धांत, मोक्ष की अवधारणा, जन्म की दुर्लभता, सतगुरु का महत्व, राग-द्वेषपूर्ण व्यवहार का निषेध आदि प्रमुख है। अध्यात्म निरूपण के अंतर्गत मनुष्य के चरित्रगत अध्यात्म को भी जाना ना आवश्यक है। चरित्रगत अध्यात्म के संबंध में गुरु जंभेश्वरजी की वाणी में इंद्रिय संयम, मन पर नियंत्रण, आंतरिक एवं बाह्य पवित्रता, प्राणी मात्र की रक्षा की बात, सत्संग का महत्व, बाह्य आडम्बरों का निषेध, केवल्य ज्ञान या

जीवन मुक्ति की अवधारणा आदि प्रमुख हैं। आध्यात्मिकता कोई स्थाई प्रत्यय नहीं है। उनके स्वरूप में युगानुरूप परिवर्तन भी देखने को मिलता है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ आध्यात्मिकता का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। वस्तुत: इसका अवबोध मानवीय अभिव्यक्तियों में देखा जा सकता है और उसी के अनुसार ही आध्यात्मिकता के स्वरूप का विवेचन संभव हो सकता है।

जिस कर्मकांड को रूढ़ मानकर वर्तमान में बदले हुए युग के विशेष संदर्भ में हम त्यागने की बात करते हैं, वहीं कर्मकांड उस समय आध्यात्मिक प्रत्ययों के प्रत्यक्षीकरण के लिए आवश्यक था। कुछ ऐसे भी आध्यात्मिक तत्व हैं जो आध्यात्मिकता के लिए सार्वकालिक प्रत्यय के रूप में लोक में उपस्थित है। निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति अपने विकासकाल में आध्यात्मिकता के नए और व्यापक अर्थ एवं स्वरूप को अवश्य ग्रहण करती रही, लेकिन आत्मा की अवधारणा एवं जीव मात्र की एकता की अनुभूति, उसका चिंतन आध्यात्मिकता की परिधि में प्राचीन काल से बराबर स्थान बनाए हुए हैं। ये प्रत्यय शाश्वत एवं परिवर्तनशील नहीं हो सके।

प्रोफेसर हरेंद्र प्रसाद सिन्हा के शब्दों में- 'जब हम भारतीय दर्शन की ओर दृष्टिपात करते हैं, तब उसे अध्यात्मवाद के रंग में रंग पाते हैं। भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता के ज्ञान को प्रधानता दी गई है। यहां का लोक दार्शनिक सत्य के सैद्धांतिक विवेचन से ही संतुष्ट नहीं होता, बल्कि वह सत्य की अनुभूति पर जोर देता है। आध्यात्मिक ज्ञान तार्किक ज्ञान से उच्च है। तार्किक ज्ञान में ज्ञात और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है, जबकि आध्यात्मिक ज्ञान में वह मिट जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान निश्चित रूप से संशयहीन है।' मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा ही संभव है। प्राय: सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों ने आत्मा का अनुशीलन किया है और इसके स्वरूप की व्याख्या उनके अध्यात्मवाद का सुष्ठु प्रमाण है। वर्तमान में आपसी वैमनस्य की बढ़ती चिंगारी में एक आध्यात्मिक ही लोगों को शांति प्रदान कर सकती है। अध्यात्म मानव के मन में आत्मज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित करके अज्ञानता के तिमिर को दूर करते हुए, मानव का पथ प्रदर्शन करता है।

मध्यकालीन भक्ति काव्य धारा भारतीय साहित्य की एक सशक्त एवं जीवन्त धारा है। इस काल में भक्ति के कई रूप संवर्धित हुए। आचार्य रामानुज के अनुसार सभी मनुष्यों के लिए ईश्वर से अपनत्व स्थापित करना और भक्ति के माध्यम से शाश्वत सुख का अनुभव करना संभव है। वह सैद्धांतिक आधार था जिसने क्रियाशीलता की नयी लहर को बल प्रदान किया। 'आध्यात्मिक साधना' कभी भी रूप की साधना नहीं हो सकती। यह समस्त रूपों के भीतर से चंचल रूप के बंधन को अतिक्रम करके, ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है।[1]

ईश्वर की धारणा मनुष्य के मन का स्वाभाविक गुण है। वेदांत के अनुसार मानव मन की सर्वोच्च अवधारणा ही सच्चिदानंद है। धर्म में वर्णित आध्यात्मिक स्वरूप ही धर्म को विश्वव्यापी धरातल प्रदान करता है। 'आध्यात्मिकता ही किसी भी जाति की शक्ति का प्रधान स्रोत है। जिस दिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान होने लगता है उसी दिन से उस राष्ट्र की मृत्यु प्रारंभ हो जाती है।'[2]

गुरु जंभेश्वर जी इस भारतभूमि पर एक धर्म गुरु के रूप में उपस्थित हुए। इसलिए उनकी वाणी में निहित आध्यात्मिक रस का आस्वादन करना आवश्यक है। गुरु जंभेश्वर जी एक समाज सुधारक, लोक दृष्टा, भविष्यवेत्ता, आध्यात्मिक गुरु, पंथ प्रदर्शक, केवल्य गुरु आदि नाना रूपों में जाने जाते हैं। मूलत: उनका धार्मिक दृष्टिकोण भारतीय भाषाओं के साहित्य में

विशेष रूप से मुखरित हुआ है, जो विज्ञान एवं प्रकृति से जुड़ा हुआ है। उनकी वाणी में ही उनका सर्वजयी व्यक्तित्व उपस्थित है। अपने अनन्य साधारण व्यक्तित्व के कारण ही सहृदय को प्रभावित करते हैं। उन्होंने जिस ढंग से लोक को आध्यात्मिक, नैतिक एवं सदाचार विषयक बातें बताई, वे उन्हें साधारण मनुष्य से ऊपर उठाकर महात्मा या उनके ईश्वरीय स्वरूप का बोध कराती है। वे अनुभव द्वारा साक्षात्कार किए गए सत्य पर विश्वास करते हैं। उनकी वाणी में जो प्रकाशपुंज है वह सार्वजनीन, जीवन्त एवं प्राणवान है। उनकी वाणी में जिन विचारों की अभिव्यक्ति हुई है उन्हें बुद्धि के द्वारा समझाने की आवश्यकता है।

गुरु जंभेश्वर जी ने अध्यात्म एवं तत्व ज्ञान के गंभीर चिंतन को मरूप्रदेश के जनसाधारण तक उनकी भाषा के माध्यम से पहुंचाया। गुरु जंभेश्वर जी ने अपनी चिंतन शील दृष्टि एवं मनस्वी प्रवृत्ति के माध्यम से पुरातन भारतीय ज्ञान को नूतन दृष्टि एवं मान्यता प्रदान की। धर्म और अध्यात्म का लौकिकीकरण करने में उनकी विचारधारा विशेष रूप से प्रमुख है।' जाम्भोजी ने लोकभाषा में जनसाधारण को एक क्रमबद्ध दर्शन और विचारधाराओं से सार-संचयन और उनका उचित समन्वय किया तथा स्वानुभूति के आधार पर अनेक संदर्भों में व्यावहारिक दृष्टि से जनता के सामने अपनी बातें रखी। उन्होंने समय और क्षेत्र विशेष के विशिष्ट संदर्भों में, प्रवाहमान परम्पराओं को आत्मसात् कर, अपनी बातें कही थी। प्राप्त अनुभवों, अनेक क्षेत्रीय और युगीन परम्पराओं तथा तत्कालीन सामाजिक परिपाश्वों में वे स्वतंत्र चेता और दार्शनिक भी थे।[3]

गुरु जंभेश्वर जी ने निर्भीकता, सत्य, अहिंसा, विश्व-कल्याण एवं विश्व-शांति जैसे अनेक नैतिक मानवीय मूल्यों की धारणा स्थापित की। उन्होंने बताया कि मनुष्य को सदैव सत्य को अनुभव की कसौटी पर परखने के पश्चात ही आगे बढ़ना चाहिए। जांभाणी दर्शन के अनुसार आत्मसत्ता एवं आत्मज्ञान की वास्तविकता अनुभूति ही अध्यात्म है। आत्मा एवं परमात्मा के बीच का संबंध, जीव, जगत्, ब्रह्म, पाप-पुण्य, माया, साधना, पुनर्जन्म, भक्ति, मोक्ष आदि का सम्यक समावेश इस दर्शन में निहित है। गुरु जंभेश्वर जी ने धर्म को मध्ययुगीन जटिल आवरणों से मुक्त कराकर लौकिक संदर्भों से पुष्टित किया। गुरु जंभेश्वर जी की आध्यात्मिक विचारधारा स्वयं के अनुभव पर आधारित थी, जिसमें मरूप्रदेश की युगीन भाषा का सबसे अधिक समावेश हुआ है। लोक को उनकी प्रचलित भाषा में, उनकी बुद्धि एवं अध्यात्म ज्ञान की समझ के अनुसार ही सैद्धांतिक ज्ञान को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए मानवता को कल्याण की राह प्रशस्त की।

जीव तां जुगति है, मरै ते मोख दवार॥

(सुरजन दास पूनिया कृत कथा धरमचरी)

भारतीय दर्शन एवं ज्ञान मीमांसा की भांति गुरु जंभेश्वर जी की वाणी में भी आत्मा को विशिष्ट महत्व प्रदान किया गया है। सबदवाणी में आत्मा के लिए जीव, जीवड़ा, हंस, रतन काया, पिराणी, कंण, रूही, जोती जैसे शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। मानव शरीर में निहित आत्मा की शाश्वतता और देह की क्षणभंगुरता के विषय में गुरु जंभेश्वर जी ने कहा है कि-

हंस उडाणौ पंथ विलंव्यो आसा सांस निरास भईलो।
ताथैं होयसी रंड निरंडी देहूं।
पुवंण झौले वीखरिजैंला गैंण विलंबी खेहूं॥4॥

मानवीय आत्मा में ही परमात्मा का वास होता है, किंतु अज्ञानता के वशीभूत होकर मानव जीव, जगत् और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाया है। मनुष्य के शरीर में परब्रह्म की छाया जीव रूपी आत्मा में ही निहित है। गुरु जंभेश्वर के शब्दों में-

काया भीतर माया आछै, माया भीतर दया आछै।

दया भीतर छाया आछै, छाया भीतर बिंब फळूं॥5॥

जाम्भाणी साखी साहित्य में काया रूपी गढ़ में हंस रूपी जीवात्मा को सांसारिक विषय वासनाओं से रहित और नर निराहारी बताया गया है–

बैठो हंस काया गढ बोले, नर निरहारी दीठो।
किरिया सार काया कसौटी, लोभ पड़चो मन मीठो॥6॥

जम्भवाणी के अनुसार जब आत्मा को तत्व ज्ञान का अवबोध होता है तब वह इस सांसारिक मायाजाल से ऊपर उठकर इहलोक में आनंदपूर्वक और परलोक में मोक्ष को प्राप्त होती है। द्रष्टव्य सबद–

साहिल्य हुवा मरण भव भागा। गाफिल मरणै घणै डरै।
सतगुर मिलियौ सतपंथ ज पायो, मरणै बोह उपगार करै।
रतन काया सोभंती लाभै, पार गिरांयै जीव तरै।

××××××××××××××

रवंणा ठवंणा चवदा भवंणा, ताहि परे र रतन कया छै।
रतन कया साचौ की ढोली, गुरु प्रसादे केवल न्यांने।
ध्रंम आचारे सीले संजमे, सतगुर तूठै पाइयै॥7॥

गुरु जंभेश्वर जी ने शरीर में आत्मा को सूक्ष्म–स्थूल रूप में विद्यमान बताया है। जिस प्रकार तिलहन में तेल और पुष्प में सुगंध सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है ठीक उसी तरह इस पंचभूतों से निर्मित शरीर में आत्मा विद्यमान रहती है। गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी में आत्मा एवं परमात्मा के अभिन्न संबंध को बताते हुए मनुष्य को इस सांसारिक जीवन में रहते हुए निरंतर आत्म–उद्धार एवं आत्म ज्ञान प्राप्ति का प्रयास करने की प्रेरणा प्रदान की। आत्मा के उद्धार हेतु जीवात्मा को क्या करना चाहिए? इसके लिए गुरु जंभेश्वर जी ने किसान और खेती के माध्यम से लौकिक द्रष्टांत देते हुए कहा कि–

जीव के काजै खड़ो जी खेती, तैह नै रखवालौ भाई।
दैतांनी सैतांनी फिरैला मत मोरा चरि जाई।
उंनमंन मनवां जीव जतन करि मन राखीलो ठाई।
जीव कै काजै खड़ो ज खेती सा वाव दवाव न जाई॥8॥

जम्भवाणी में आत्मा के लिए शुद्ध, निर्मल एवं उज्ज्वल स्वरूप के लिए निरमली काया शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिनके अनुसार सांसारिक विषयों एवं विभिन्न प्रकार के विकारों से रहित शुद्ध जीवात्मा होती है वह परमात्मा स्वरूपी मानी जाती है। मृत्यु के पश्चात हंस (जीवात्मा) उड़कर अनंत में विलीन हो जाता है तथा मानव शरीर में निहित आत्मा की शाश्वतता और देह की क्षणभंगुरता के विषय में गुरु जंभेश्वरजी ने कहा है कि–

हंस उडाणौ पंथ विलंव्यो आसा सांस निरास भईलो।
ताथैं होयसी रंड निरंडी देहूं।
पुवंण झौले वीखरिजैंला गैंण विलंबी खेहूं॥9॥

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार संसार के प्रत्येक पिंड (जीव) में एक अमर तत्व है, जो प्रकाशमान एवं गतिशील है। मनुष्य को ब्रह्मांड के उस अमर तत्व रूपी आत्मतत्त्व अर्थात् जीव में समाहित ज्योति की पहचान करनी आवश्यक है। इसकी उचित पहचान के अभाव में जीव की मुक्ति–मोक्ष संभव नहीं है–

भवणि भवणि म्हारै एका जोती।
जागो जो वौ जोति न खोवौ, छलि जासी संसारूं॥

(सबदवाणी)

गुरु जंभेश्वर जी ने मनुष्य को सदैव परम सत्ता के मूल को खोजने तथा उनकी सर्वोच्च सत्ता से संबंध स्थापित करने की बात कही है–

भल मूल सींचो रे प्रांणी, ज्यूं का भल बुधि पावौ।
भल मूल सींचो रे प्रांणी, ज्यौं तरवर मेल्हत डालूं॥10॥

गुरु जंभेश्वर जी ने मनुष्य के आध्यात्मिक उत्थान के लिए एवं आत्म ज्ञान व कल्याण के लिए जीवन का मूल खोजने एवं जीवन जीने की श्रेष्ठ विधि सबदवाणी के माध्यम से लोक को बताई है। आत्मा के मूल में निहित परमात्मा को खोजकर उनके कल्याण हेतु बौद्धिक चेतना को जाग्रत करने की आवश्यकता है। अज्ञानता वश मनुष्य योनि रूपी श्रेष्ठ वृक्ष के मूल

को सींचने की सलाह उन्होंने दी है। यह देह स्वरूप में वृक्ष जगत् के समस्त प्राणियों के जीवन का मूल है। जिस जिज्ञासु साधक ने इसका सम्यक रूप से ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने इस परमतत्त्व के भेद को भली–भांति पहचान लिया है वह ज्ञान प्राप्ति द्वारा जन्म –मृत्यु के आवागमन से मुक्त हो सकता है।

ग्यानं खड़गूं जथा हाथे, कूंण होयसी हमारा रिपु।

परम तत्व का ज्ञान जिन्होंने प्राप्त कर लिया है उसका कोई भी शत्रु नहीं हो सकता है। इस संबंध में गुरु जंभेश्वर जी ने बौद्धिक ज्ञान की श्रेष्ठता बताई है। लोक में जीवात्मा को परम तत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बौद्धिक चेतना एवं आत्मज्ञान आवश्यक है। जाम्भाणी दर्शन में जीवात्मा को कण एवं अणु सदृश्य बताया गया है। गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी में कहा है कि–

मोरा उपाख्यान वेदूं कण तंत भेदूं। मेरे उपाख्यान है जो कण तत्व अर्थात् आत्म तत्व के भेद बताने वाले हैं। मनुष्य को लौकिक जीवन के उद्धार हेतु आत्मतत्त्व (कण तंत) की खोज जरूरी है। यह आत्मतत्त्व ही जीवन का सार और आत्मा को आंनद प्रदान करने वाला है। यह आत्मतत्त्व रूप, रंग एवं गुण से रहित है–

परमतंत है ऐसा, परमतंत के रूप न रेखा।

इस संसार में जिन्होंने ज्ञान, ध्यान आदि के माध्यम से जीवात्मा या आत्मा को पहचाना और इस सांसारिक जीवन में विचार–चिंतन किया है वहीं आत्मवान श्रेष्ठ पुरुष है– **पुरष भलो निजवाणी।**

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार यह आत्मा जो जीव में समाहित है यानी जीवात्मा शरीर रूपी नगर का राजा है। इसलिए जीवात्मा का ज्ञान प्राप्त करना आनंद प्रदाता माना जाता है–

कंण विन कूकस कांयौ पीसै, निहचौ सरी न कायौ।
म्हे अवधू निरपेखी जोगी, सहल नगर का रायो॥11॥

जांभाणी दर्शन के अनुसार यह परम तत्त्व–जीवात्मा सहज में ही गगन मंडल में समाहित है। जो व्यक्ति आत्मतत्त्व को पहचान कर दया और शील धर्म का पालन करता है वह सदैव के लिए आवागमन से मुक्त हो जाता है–

गुर फुरमाई करै आचार, ब्रंभग्यांन को लहै विचार।
सहज दया ठहरावै दोय, मरतकि आवागुंवणि न होय॥

(जांभाणी संत कवि सुरजन दास पूनिया)

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार इस संसार का सर्वोत्तम तत्व परमात्मा है और वह सदैव जीवात्मा में निवास करता है। मनुष्य को हमेशा सद्कर्म करते हुए सुपथ पर चलकर ध्रुव सत्य स्वरूपी तत्व को आत्म ज्ञान के माध्यम से पहचान कर इस जीवात्मा की मुक्ति का प्रयास करना चाहिए।

म्हे खोजी थापण होजी नाहीं, खोज लहां धुरि खोजूं।[12]

आत्मिक ज्ञान, बौद्धिक चेतना एवं चिंतन के लिए आध्यात्मिक वृत्तियों की दृष्टि से अंत:करण की वृत्तियों की श्रेष्ठता आवश्यक होती है। इसके लिए गुरु जंभेश्वर जी ने श्रेष्ठ साधना या उपासना हेतु इंद्रिय संयम को आवश्यक माना है। मनुष्य को सांसारिक विषय वासनाओं की ओर प्रेरित करने की दृष्टि से मन को विशेष महत्व दिया जाता है। मन समस्त इन्द्रियों को धारण करने वाला होता है। मन पर नियंत्रण बुद्धि ही रख सकती है। इसके लिए अभ्यास, संतोष, वैराग्य, नियंत्रण एवं विवेक की महती भूमिका होती है। ये समस्त तत्व बुद्धि के अधीन है, इसीलिए बुद्धि को सभी प्राणियों की समस्त प्रकार की इंद्रियों की अधिष्ठात्री माना गया है। इसके लिए सबदवाणी में एक ही सबद में खोजें तो जांभाणी दर्शन का सर्वश्रेष्ठ आदर्श वाक्य है–

तन मन धोइयै संजम होइयै हरष न खोइयै।

मन को गुरु जंभेश्वरजी ने बुद्धि से जुड़े हुए सभी तत्वों का (मन रखवालौ थाई) रक्षक एवं नियंत्रक

माना है।

उंनमंन मनवां जीव जतन करि मन राखीलो ठाई।

जांभाणी संतकवि साहबराम राहड़ के अनुसार–

घट घट आत्म ऐक विचारो, ईश्वर एक अंश जग सारो।
मन इन्द्री नहश्चल कर लीजै, परम पुर्ष कौ ध्यान करिजै॥[13]

इस प्रकार मन की अनुचित वृतियों पर बुद्धि के माध्यम से नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति के लिए गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी में कहा गया है कि–

संजम सुपंथु मरतकि मोख दवारूं।

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार इस संसार में जिन्होंने परम तत्व के रहस्य को पहचान लिया है वही परमात्मा से भेंट कर सकता है और बुद्धि से मन आदि की वृत्तियों पर नियंत्रण कर सकता है–

जां जां भेदानभेदूं तो सुरगे किसी उमेंदूं।

(अभेद–अद्वैत की पहचान न करने वाले मनुष्य को स्वर्ग की भी उम्मीद नहीं करनी चाहिए।) इसके अतिरिक्त अन्य सबद में गुरु जंभेश्वरजी कहते हैं कि–

जिंहके सदके भीनांभीन तो भेंटीलो रहमान रहीम॥[14]

इस जगत् में स्थायी कुछ भी नहीं है। यह मनुष्य जन्म भी एक गोवलवास (अस्थायी– अल्प समय का निवास) है। संसार की असारता के संबंध में गुरु जंभेश्वरजी कहते हैं कि–

आडा डंबर केती बार विलंबण, ओ संसार अनेहूं।

यह संसार आसमान में छाए हुए बादलों की भांति है तथा इस संसार रूपी बर्तन का सृजन परमात्मा ने ही किया है। संसार अस्थायी है और आदि, अनादि तो केवल परमात्मा ही है जिन्होंने इसकी रचना की है–

आदि अनादि तो हम रचीलौ।

भारतीय धर्म ग्रंथों में मन की सात्विकता, चित्त की एकाग्रता एवं हृदय की पवित्रता हेतु परमतत्व के जप–नाम स्मरण को विशेष महत्व दिया गया है। मनुष्य को बुद्धि की चेतना से सात्विक वृत्तियों का संकेद्रण करते हुए आत्मशुद्धि के माध्यम से परम सत्तात्मक तत्व का स्मरण करना ही नाम–स्मरण है। परम तत्व जिसे ईश्वर, परमात्मा, हरि, प्रभु, विष्णु, राम, कृष्ण, अल्लाह, शिंभु, निरंजन आदि भिन्न–भिन्न नामों से संबोधित किया गया है। इनका (परम तत्व का) नाम तथा माहात्म्य असीम है। नाम स्मरण को मनुष्य को सद्‌गति प्रदान करने वाला, अहंकार का नाश करने वाला, आध्यात्मिक वृत्ति जगाने वाला एवं पापों का क्षय करने वाला माना जाता है।

नाम जप करने से मनुष्य के हृदय में दया, करुणा, परोपकार, नम्रता, सहनशीलता, क्षमा, शील, संयम जैसे उदात्त मानवीय गुणों का विकास होता है। निर्मल चित्त से किया जाने वाला नाम स्मरण मनुष्य के मन को शांति प्रदान करने वाला और मुक्ति प्रदान करने वाला भी माना जाता है।

गुरु जंभेश्वर जी ने मनुष्यों के लिए विष्णु नाम का स्मरण बताया है। उन्होंने परमसत्ता के लिए विष्णु नाम ही उपयुक्त माना है। सबदवाणी में गुरु जंभेश्वरजी ने विष्णु नाम का स्मरण को बुद्धि की शुद्धता एवं मन को स्थिर करने वाला बताया गया है।' जम्भवाणी में विष्णु नाम स्मरण को ही सबसे बड़ा जप तथा भव–क्लेश नष्ट करने वाला बताया है। 'विष्णु' जप करने मात्र से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा समस्त विकारों का नाश हो जाता है एवं मनुष्य का व्यक्तित्व सात्त्विक हो जाता है। 'विष्णु' नाम–स्मरण ही जीवन का मूल तत्त्व है। मानव के जीवन का आधार–तत्त्व है।[15] गुरु जंभेश्वर जी ने नाम–स्मरण के लिए मन की स्थिरता रखते हुए दुविधा वृत्तियों का त्याग करने को कहा है।

विसन विसन तूं भंणि रे प्रांणी, विसन भंणंतां अनंत गुणौं।[16]

संसार की नश्वरता एवं मृत्यु को निश्चितता मानते हुए मनुष्य को सदैव विष्णु नाम का स्मरण करना चाहिए। विष्णु नाम का जप ही मनुष्य को परमतत्व तक पहुंचाने वाला है। इस संसार में स्थायी

कुछ भी नहीं है नाम स्मरण ही शाश्वत है।

विसन विसन भंणि अजर जरीजै, लाहो लीजै पह जांणीजै।
धंरम हुवै पापां छूटीजै, हरषै हरि को नांव जपीजै।
हरषीलो हरि आंण हरूं, हरि नारायण देव हरूं।
आसा सांस निरास भईलो,पावौ मोख दवार खिणूं॥[17]

गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी में विष्णु के पर्याय के रूप में हरि, नारायण, परमेश्वर, शिंभु, अपरंपर, सदगुरु, सारंगधर, राम, रहीम, कृष्ण, श्याम, करीम, अल्लाह, रहमान, खुदायबंध आदि नामों का जिक्र किया है। गुरु जंभेश्वर जी ने इन सभी नामों का जिक्र भिन्न-भिन्न रूपों में लोगों को नाम स्मरण की महत्ता एवं परमतंत की सर्वव्यापक सर्वोच्च सत्ता के अवबोध हेतु किया था। उनकी वाणी में सबसे अधिक बार विष्णु नाम का उल्लेख मिलता है इस नाम के प्रति उनकी विशेष रुचि देखने को मिलती है। विष्णु को अपरंपर परमतत्त्व का पर्याय तक बताया गया है-

सो अपरंपर कांय न जंपौ।
हिरदै हरि सिंवरलो, विसन मया चौखंड किरसाणी॥[18]

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार मनुष्य को नाम स्मरण के लिए किसी बाह्याचार आदि की आवश्यकता नहीं है।वह अपना दैनिक कार्य करते हुए भी विष्णु नाम का स्मरण कर सकता है-

विसन विसन तूं भंणि रे प्रांणी, जे मन मानै रे भाई।
हिरदै नांव विसन को जंपौ, हाथे करो टवाई॥[19]

जांभाणी दर्शन एवं परम्परा में विष्णु नाम स्मरण बहुत ही सरल एवं सहजता से किया जा सकता है। इसके लिए किसी विशेष परिश्रम एवं परिस्थितियों को निर्मित करने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति को मन ही मन में परमात्मा का नाम स्मरण करना चाहिए। विष्णु मंत्र का स्मरण करते हुए अगर मनुष्य को किसी प्रकार का कष्ट या थकावट महसूस होती है तो उसके संबंध में गुरु जंभेश्वरजी ने कहा है कि-

विसन जपंता जीभ जु थाकै, तो जीभड़िया विणि सरियो।[20]
विसन अजप्यां जलम इक्यारथ आके डोडा खींपे फलियौ।[21]

जो व्यक्ति नाम स्मरण के संशय में पड़े हुए हैं उन लोगों को संबोधित करते हुए गुरु जंभेश्वर जी कहते हैं कि मृत्यु क्षण प्रतिक्षण नजदीक आ रही है, इसे ध्यान में रखते हुए मनुष्य को निरंतर विष्णु नाम का स्मरण करना चाहिए।

भूला प्रांणी विसन जंपों रे, मरण विसारो केहूं।[22]

विष्णु नाम स्मरण ही व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके साथ चलने वाला एवं धर्मराज के समक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण-शाश्वत है। इसीलिए मनुष्य को सदैव विष्णु नाम स्मरण करते हुए शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहना चाहिए।

विसन विसन भणि ली न सांई, सुरनर संकर को न गवाई।
ताथै जंवर विनड़सी रे भाई, वासि वहंतै कीवी ने कमाई।
जंवर तणां जंमदूत दहैला, ताथैं तेरी का न वसाई॥[23]

गुरु का महत्व

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार मनुष्य अगर भौतिक संसार से मुक्त होकर परमतत्त्व की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे गुरु अवश्य धारण करना चाहिए। गुरु के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है- **गुर विणि मुकति न जाई।** मनुष्य सद्‌गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान रूपी नौका पर चढ़कर ही संसार सागर से पार हो सकता है। गुरु के ज्ञानोपदेश का पालन करके ही मनुष्य परमतत्व की प्राप्ति कर सकता है। गुरु द्वारा बतलाये गये आचरण का सम्यक ढंग से अनुसरण करने वाला व्यक्ति सहजता पूर्वक अपना उद्धार कर सकता है-

जे तैं गुर का सबद मांनीलो, पहि उतरिबा पारूं।
आसंण छोडि सिधासण बैठो, जुंगि जुंगि जीवै लुहारूं॥[24]

गुरु की महिमा का बखान समस्त भारतीय वांग्मय में प्रमुखता से मुखरित हुआ है। मनुष्य के जीवन में गुरु का अपना विशिष्ट महत्व एवं स्थान होता है। गुरु महनीय व्यक्तित्व से सम्पन्न दिव्य दृष्टि युक्त महापुरुष होता है जो मनुष्य के जीवन में व्याप्त अज्ञान रूपी

तिमिर का नाश कर, उसके जीवन को ज्ञान रूपी प्रकाश के माध्यम से आलोकित करता है।

सतगुर तौड़े मन का साला, सतगुर होई सहज पिछांणी।[25]

गुरु द्वारा बतलाये गये सतपंथ पर चलकर व्यक्ति युक्तिपूर्ण जीवन यापन कर सकता है। गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी के प्रथम सबद में गुरु की पहचान करने एवं गुरु के गुण-धर्मों के विषय में बतलाया है-

गुर चीन्हू गुर चीन्ह तिरोहित, गुर मुखि धंम वखांणी।
जो गुर होयबा सहजे सीले नादे विंदे, तिंह गुर का आलिंगार पिछाणी॥

'जम्भवाणी के अनुसार मनुष्य को मानव को संसार सागर से पार कराने हेतु विज्ञानी, कैवल्य ज्ञानी तथा अनन्त गुणवान धीर-गंभीर तथा अपरम्पर विशेषताओं से युक्त ज्ञानी पुरुष को खोजने की जरूरत है।

खोज पिराणीऐसा बिनाणी, केवल ज्ञानी, ज्ञान गहीरूं।[26]

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार गुरु साधक की साधना को चरम पर पहुंचाने वाला (मानव को परम तत्व तक पहुंचाने वाला) उदारमना, जीवन-मुक्त एवं संतोषी वृत्ति सम्पन्न होता है। जो अपनी विशिष्ट दृष्टि से शिष्य की सम्यक पहचान करके उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति हेतु प्रेरित करता है। गुरु मनुष्य को सत्य की राह प्रशस्त कर आत्म चिंतन एवं ज्ञान के लिए सदैव प्रेरित करता है। गुरु जंभेश्वर जी ने अनेक सबदों में विभिन्न संदर्भों में गुरु का उल्लेख करके मानवता को सच्चे सद्गुरु की पहचान करने एवं गुरु के शब्दों को धारण कर श्रेष्ठ ढंग से जीवन यापन करने की प्रेरणा प्रदान की है-

गुर के सबदि असंणि परमोधी, खार समंद परीलो।

(सबद-27)

गुर का सबद ज बोले झींणी बांणी, दूर् यां ह्रीं तैं दूरि सुंणीजै।
सो सबद गुंणां कारूं गुणां पारू, गुणां सारूं बले अपारूं॥[27]
जिहं कै गुणै न लाभंत छेहूं।
वै गुर गुहर गरवा सीतल नीरूं, मेवां ही अति मेऊं॥
हिरदै मुकता कंवल संतोषी, टेवा ही अति टेऊं।
चड़ि करि बोहिथे भयं जल पारि लंघावै। से गुर खेवट छेहा छेहूं।[28]

गुरु जंभेश्वर जी लोगों को एक अन्य सबद में कहते हैं कि मनुष्य को सदैव श्रेष्ठ गुरु के मुख से उच्चरित वेद सदृश्य बाणी का अनुसरण करना चाहिए। मनुष्य को कलियुग की पहचान करके, चेतना जाग्रत करते हुए संसार को भ्रमित करने वाले लोगों से सावधान रहने की आवश्यकता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही लोगों को आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करता है। गुरु की बाणी मनुष्य मनुष्य के मन को प्रसन्नता प्रदान करने के साथ ही आत्मतत्त्व का अवबोध भी कराती है। गुरु जंभेश्वर जी स्वयं कहते हैं कि मैं अपनी वाणी द्वारा आप लोगों को वेदों के गंभीर ज्ञान को अत्यंत सरल एवं सहज भाषा में व्यक्त करता हूँ।

कलि युग वरतै चेतो लोई, चेतो चेतण हारूं।
सतगुर मिलियौ सतपंथ बतायौ, वेद गरथ उदगारूं॥

(सबद-24)

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार योग्य गुरु ज्ञान रूपी हीरों का व्यवसाय करता है। जो अपने सान्निध्य में आने वाले सभी लोगों को ज्ञान प्रदान करके हीरे की भांति अमूल्य बना देता है। इस आभा मंडल में हवा, जल, धरती, आसमान, बादल, समस्त वनस्पति जगत्, पर्वत श्रृंखलाएं एवं सूर्य-चंद्रमा तक का समस्त ज्ञान-विज्ञान गुरु के पास विद्यमान है। उसे पहचानने की आवश्यकता है।

गुर हीरा विणजै लेह म लेहूं, गुर नूं दोस न देणां।
पवणां पांणी जिमी में हूं, भार उठारा परबत रेहूं।
सूरज जोती परै परै रै, एती गुर के सरणां॥

(सबद-51)

जांभाणी साहित्य एवं विश्नोई पंथ की विचारधारा में गुरु जंभेश्वर जी को परम गुरु के रूप में भी विशेष

महत्व है। परम गुरु जंभेश्वर जी के पूरण ब्रह्म स्वरूप, अनंत दिव्य दृष्टि, सर्वज्ञता, सहजता एवं सर्वव्यापकता को जांभाणी साहित्य साधक संतकवियों की वाणी में इस प्रकार उकेरा गया है। कुछ द्रष्टव्य पद-

जम्भ गुरु पूरण ब्रह्म, परम हंस प्रिय अति।
चरणांविंद नमन नित्य, हृदै वास करो यति॥
निवण करूं गुरु हंस नै, बंदव चरण सुभाव।
भगतां तारण भवहरणं, तीन लोक को राव॥[28]
सप्त दीप नव खंड चतुर्दस, गुरु समय महिमां कहत डरूं।
दर्श पर्श गुरु चरण रजी कूँ, कोट जन्म के पाप हरूँ॥[29]
गुरु गरवा समेर सम, गहरा समंद समान।
मीठा इम्रत उदधि इव साहब नैना भांन।
ध्यान कलां गुरु जोग्य, ज्ञान कला गुरु सांख।
विज्ञान कला वेदान्त गुरु, साहब सतगुरु आख॥
अन्न धन ज्ञान भक्ति अरू मोखा। मो पैं राजै पाचूं थोका।[30]
इन चीजूंका भर्‌या भण्डारा। चाहो सौ आवौ जम्भ द्वारा॥[31]

गुरु जंभेश्वर जी ने आध्यात्म निरूपण की दृष्टि से मन पर नियंत्रण, वाणी का संयम एवं बौद्धिक चेतना के साथ ही आंतरिक एवं बाह्य पवित्रता को भी आवश्यक माना है।

मन घोड़ो श्रुति स्वार्थी, रथ को साज शरीर।
रवि शशि चक्र अनूप अति, रथ वंत साहब शरीर॥[32]

तन एवं मन के परिष्कार का कार्य व्यक्ति स्वयं को ही करना पड़ता है। मनुष्य के अंतःकरण की निर्मलता स्वयं के प्रयासों से ही संभव है। गुरु जंभेश्वर जी ने सबदवाणी में मन रूपी धोबी के माध्यम से तन रूपी घर (अंतःकरण) एवं अशुद्ध वस्त्र (काम, क्रोध, मद, लोभ व मोह) आदि के द्रष्टांत द्वारा लोक चेतना इस प्रकार जागृत की है-

सतगुरु चीन्ह सहजे न्हाय, निर्मल पांणी निर्मल घाट।
निर्मल धोबी मांड्‌या पाट।
जे ओ धोबी जांणै धोय, घर मैं मेला वागा रहै न कोय।
एक मंन एक चित साबंण लावै, पहरंतौ गाहक अति सुख पावै।
(सबद संख्या-107)

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार जिस व्यक्ति ने मन में संतोष एवं सत्य, अहिंसा व दया को धारण कर लिया है तथा अहंकार व मान-अपमान की भावना का परित्याग कर दिया है। वह व्यक्ति नौ द्वार रूपी इस काया को वश में करके ब्रह्मरंध्र रूपी दसवें द्वार में प्रवेश कर सकता है। अहंकार आदि विषय आसक्तियों से ग्रसित मनुष्य का मन सदैव दुःखी एवं विभिन्न प्रकार के विकारों के बंधन में बंधा हुआ रहता है। इस प्रकार की वृत्तियों वाले लोग मानसिक रूप से अस्वस्थ एवं कायिक रुग्णता से ग्रसित होते हैं।

सदा संतोषी सत उपगरणां, तजिया मांन अभिवांनू।
वसि वसि पवणां वसि करि पांणी, वसि करि हाट पटंण दरवाजूं।
दसे दवारे ताला जड़िया, जोय ऐसा उसताजूं।
दसे दवारे ताला कूंची, भीतरि पौलि बणाई॥
(सबद-106)

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार मनुष्य को सदैव सहज, अत्यंत सरल, भावपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक वाणी का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार का सहज ज्ञान ही मनुष्य के आंतरिक स्थल का परिष्कार करता है। गुरु जंभेश्वर जी के अध्यात्म निरूपण तत्वों के अंतर्गत इंद्रिय संयम एवं शील धर्म का पालन करना भी आवश्यक माना जाता है। जो व्यक्ति संयमी, आचार -विचार से श्रेष्ठ एवं सात्विक वृति से युक्त होगा वह सहज ही आवागमन से मुक्त हो सकता है- **जिंहिकी सहजे चूकै आवागौंण**। साथ ही मुक्ति के लिए आत्मज्ञान भी बहुत जरूरी है। आत्म ज्ञान के अभाव में मनुष्य मुक्ति मार्ग पर नहीं पहुंच सकता है। गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार मनुष्य अपने ज्ञान, अच्छे कर्म, बौद्धिक ज्ञान की श्रेष्ठता के बल पर ही सहजतापूर्वक अपना उद्धार कर सकता है। जांभाणी संतकवि साहबराम राहड़ ने ज्ञान की श्रेष्ठता एवं ज्ञान के सर्वजनीन स्वरूप को उद्‌घाटित करते हुए कहा है कि-

मानुष जोनि ज्ञांन होय जावै। ब्रिहम सकल घट एक रहावै ॥
ज्ञांन भये तन बहुरन पावा। ज्ञानहिं खर सूकरहि समांवा ॥[33]

भारतीय ज्ञान परम्परा में शील धर्म का पालन करने वाले मनुष्यों को सर्वश्रेष्ठ आदर्श पुरुष के रूप में मान्यता मिली है। एक आचार संपन्न एवं चरित्रवान व्यक्ति राष्ट्र एवं समाज की संस्कृति, सभ्यता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। सदाचार को धार्मिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना गया है। गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार जो व्यक्ति धर्म का सम्यक् आचरण करते हुए शील और संयम का पालन करता है, उसे परमतत्त्व की प्राप्ति होती है-

धरम आचारे सीले संजमे सतगुर तूठै पाइयै।
(सबद-39)

आचार के महत्व को समझाते हुए गुरु जंभेश्वर जी ने कहा है कि-

आचारी आचारे लीणां, संजमे सीले सहज पतीना।
तिंही आचारी नै चीन्हत कौंण,
जिहीं की सहजै चूकै आवागौंण ॥
(सबद-52)

जांभाणी दर्शन में आचार के अंतर्गत मनुष्य का चरित्र, शील धर्म का पालन, पवित्रता एवं उनका व्यवहार आदि सम्मिलित हैं। गुरु जंभेश्वर जी की वाणी एवं उनके सिद्धांतों में आध्यात्मिक निरूपण एवं साधना की दृष्टि से नाम-स्मरण, गुरु का महत्व पवित्रता, मन की एकाग्रता आदि के साथ-साथ सत्संग, संध्या वंदन, व्यवहारगत साधना आदि तत्व भी उल्लेखित हुए हैं।

संदर्भ ग्रंथः

1. कबीर- हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ -160
2. स्वामी विवेकानंद- विवेकानंद साहित्य, भाग-2, पृष्ठ-198
3. जांभोजी की सबदवाणी (मूल और टीका)- डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ- 36-37
4. सबदवाणी, सबद-23
5. सबदवाणी, सबद-
6. साखी भावार्थ प्रकाश, पृष्ठ-55
7. सबदवाणी, सबद-21
8. सबदवाणी, सबद-70
9. सबदवाणी, सबद-23
10. सबदवाणी, सबद-29
11. सबदवाणी, सबद-27
12. सबदवाणी, सबद-5
13. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, प्रथम प्रकरण
14. सबदवाणी, सबद-67
15. जम्भवाणी में लोक चेतना- डॉ. पुष्पा विश्नोई, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृष्ठ- 269
16. सबदवाणी, सबद-63
17. सबदवाणी, सबद-120
18. सबदवाणी, सबद-27
19. सबदवाणी, सबद-99
20. सबदवाणी, सबद-32
21. सबदवाणी, सबद-25
22. सबदवाणी, सबद-23
23. सबदवाणी, सबद-86
24. सबदवाणी, सबद-96
25. सबदवाणी, सबद-01
26. जम्भवाणी में लोक चेतना- डॉ. पुष्पा विश्नोई, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृष्ठ- 279
27. सबदवाणी, सबद-19
28. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, प्रकरण 11
29. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, पृ.-2
30. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, पृ.-2
31. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, पृ.-95
32. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, पृ.-3
33. साहबराम राहड़ विरचित जम्भसार, भाग-1, पृ.-6

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

3 मध्यकालीन संत कबीर के काव्य में सामाजिक चेतना

डॉ. अमृत लाल जीनगर
सहायक आचार्य (हिन्दी विभाग)
माधव विश्वविद्यालय, पिण्डवाड़ा (सिरोही) राजस्थान
G-mail: amritjinger@gmail.com

सारांश

भक्तिकाल की शुरूआत दक्षिण भारत में 7वीं सदीं के प्रारंभ में हुई थी। भक्ति की यह परम्परा उस समय से ही चली आ रही है। ज्ञानाश्रयी शाखा अर्थात् संत काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि कबीर है। संत कबीर एक क्रांतिकारी और विद्रोही कवि थे, उनका पूरा जीवन अंधविश्वास एवं रूढ़िवाद के विरुद्ध सतत् संघर्ष का जीवन रहा था। सत्य के प्रति उनकी अनन्य आस्था थी और जो कुछ भी उन्हें सच के प्रतिकूल प्रतीत होता था, वे उसका खंडन करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। संत कबीर हिन्दू या मुसलमान होने के पूर्व ईश्वर के भक्त और सत्य साधक थे, उन्हें ईश्वर की ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, जिसके बल पर बाह्य आवरणों का अंतर्सत्य ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। ईश्वर की आराधना करते हुए भी उन्होंने न संसार को छोड़ा और न सांसारिक दायित्वों से मुँह मोड़ा। हिन्दी में निर्गुणोपासक भक्ति काव्य के प्रवर्तन का श्रेय संत कबीर को दिया जाता है, उन्होंने अपने आराध्य को गोविन्द, राम, रहीम, अल्लाह आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया, परन्तु उनका आराध्य सभी नामों, संख्याओं और सम्बोधन से परे है। उनके साहित्य में ईश्वर को कहीं पति, कहीं पत्नी, कहीं पुत्र, कहीं सखा और कहीं स्वामी के रूप में स्मरण किया गया है। त्याग, सर्वस्व समर्पण और नि:स्वार्थ प्रेम का मार्ग उन्हें प्रभु भक्ति का मार्ग प्रतीत होता है। मध्यकालीन संत कबीर के काव्य में सामाजिक चेतना उनकी भक्ति भावना का एक प्रबल पक्ष है।

बीज शब्द: भक्तिकाल, कबीर, समाज, संत, काव्य, चेतना।

प्रस्तावना

सामाजिक से तात्पर्य किसी देशकाल विशेष से संबंधित मानव समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृति से है। इसका उद्‌भव सामाजिक अन्याय, अनीति, दुराचार, शोषण की प्रक्रिया से होता है। इसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रेरक होती हैं। सामाजिक चेतना व्यक्तिमूलक और समाजमूलक दोनों ही रूपों में होती है। साहित्य को सामाजिक परिवर्तन मानते हुए साहित्यकार व्यक्तिमूलक तथा समाजमूलक दोनों ही स्तरों पर सामाजिक चेतना का अनुसरण करता है।

संत कबीर की सामाजिक चेतना के संदर्भ में पहली धारणा यह बनती है कि वे समाज सुधारक थे। वस्तुत: कबीर बाह्याडम्बर, मिथ्याचार एवं कर्मकांड के विरोधी थे, परन्तु सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते समय वे सर्व–निषेधात्मक मुद्रा कभी नहीं अपनाते थे। कबीर अपने समय में प्रचलित हठयोग की साधना, वैष्णव मत, इस्लाम तथा अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों से परिचित थे। उन्होंने सबकी आलोचना की, परन्तु उनका सार तत्त्व अवश्य समाहित किया। एक भक्त के रूप में उन्होंने शुष्क ज्ञान साधना से आगे बढ़कर संसार के साथ भावनात्मक संबंध स्थापित किया। उन्हें मानव समाज की विषमताओं से पीड़ित होने और समाज को उबारने की छटपटाहट भी प्रदान की। संत कबीर के

साहित्य में निहित सामाजिक चेतना उनकी भक्ति भावना का ही एक प्रबल पक्ष है।

कबीर की सामाजिक चेतना का श्रेय उन युगीन परिस्थितियों को जाता है, जिनके बीच वे पैदा हुए तथा जीवन व्यतीत किया। वे परिस्थितियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में भयावह अव्यवस्था, विषमता और अंधविश्वास की परिस्थितियाँ थी। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'कबीर ने ऐसी बहुत सी बातें कही हैं, जिन्हें अगर उपयोग किया जाये तो समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। कबीर एक आध्यात्मिक पुरुष थे। उनका सारा जीवन ईश्वर की उपासना में बीता था। भक्ति समझ लाती है, सहानुभूति लाती है और तब आप दूसरे धर्म, दूसरी विचारधारा का हिस्सा बनते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं उनके जैसा नहीं बन जाते वरन् उस धर्म या विचारधारा के प्रति एक समझ पैदा करते हैं। प्रेम, समर्पण, त्याग पर ही यह भक्ति सिद्ध हो सकती है।'

शोध आलेख

संत कबीर का जन्म ऐसे समय में हुआ जब समाज में चारों ओर बुराइयाँ व्याप्त थी। छुआछूत, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्याचार, पाखण्ड का बोलबाला था और हिन्दू-मुसलमान आपस में झगड़ते रहते थे। धार्मिक पाखण्ड अपनी चरम सीमा पर था। धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता के कारण समाज का संतुलन बिगड़ रहा था, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का बोलबाला था, समाज में सामाजिक विषमता निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

मध्यकाल में संत कबीर जैसे महात्मा, समाज सुधारक की अति-आवश्यकता थी, जो समाज में व्याप्त बुराइयों पर निर्भीकता से प्रहार कर सकें, धर्मों के अनुयायियों को बिना किसी भेदभाव के फटकार सकें और सदाचार का उपदेश देकर सामाजिक समरसता की स्थापना कर सकें। कबीर इन सभी की पूर्ति करने वाले एक मात्र संत थे। उल्लेखनीय है कि उनमें हिन्दू और इस्लाम की रूढ़ियों, संकीर्णताओं, कट्टरताओं के विरुद्ध खड़े होने जैसी दृढ़ता थी। उनमें सच को सच कहने की निर्भीकता भी थी। वे कहते हैं-

साँच ही कहत और साँच ही गहत है, काँच कू त्याग कर साँच लागा।
कहै कबीर यूँ भक्त निर्भय हुआ, जन्म और मरन का मर्म भागा॥

संत कबीर जिस सामंतवादी युग परम्परा में थे, वह सामाजिक दृष्टि से अपकर्ष का समय था। चारों ओर विलासिता जैसे मूल्य समाज में व्याप्त थे। नारी को भोग, विलासिता की वस्तु माना जाता था। वर्णव्यवस्था और साम्प्रदायिकता ने मानव सभ्यता को तहस-नहस कर दिया था। धर्म का आडंबरकारी रूप वास्तविक धार्मिकता को निगल चुका था तथा भाषा से लेकर जीवनशैली तक एक प्रकार का आभिजात्य उच्च वर्गों की मानसिकता में बैठा हुआ था।

कबीर ने मानव सभ्यता की एकता एवं अखण्डता का सवाल उठाया और स्पष्ट घोषणा की कि '**सांई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।**' वे समाज के प्रति अति संवेदनशीलता से भरे रहे क्योंकि 'सुखिया' संसार खाता और सोता रहा जबकि संसार की वास्तविकता समझकर 'दुखिया' कबीर जागते और रोते रहे। जो कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है-

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

यह संवेदनशीलता निष्क्रिय नहीं थी, बल्कि इतनी ज्यादा दृढ़ता और आत्मविश्वास से भरी थी कि बेहतर समाज के निर्माण के लिए कबीर अपना घर फूँकने को पूर्णत: तैयार थे, वे कहते हैं-

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासु का, जो चलै हमारे साथ॥

संत कबीर का समाज के प्रति यही दृष्टिकोण वर्णव्यवस्था, साम्प्रदायिकता, भाषाई आभिजात्य और धार्मिक आडम्बरों के कठोर खण्डन में स्पष्ट दिखाई देता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक व्यवस्था से बहुत अलग करके नहीं देखा जा सकता है। जहाँ जाति-भेद, वर्ण-भेद धार्मिक व्यवस्था का ही परिणाम है, जहाँ पति-पत्नी का संबंध आध्यात्मिक बंधन है, जहाँ व्यक्ति, परिवार तथा समाज के पारस्परिक संबंधों का मूलाधार धर्म हैं, वहाँ सामाजिकता, धार्मिकता से भिन्न कैसे हो सकती है। ब्राह्मण समाज भेदभाव, छुआछूत को बढ़ावा इसलिए देता है कि वह इसे अपना धर्म समझता है।

जिस देश में गरीबी-अमीरी, सुख-दुख, जाति-पाँति, ऊँच-नीच सब कुछ ईश्वर की इच्छा से निर्धारित है, उस देश में यदि किसी भी तरह का सामाजिक परिवर्तन लाना है, तो उसके लिए धार्मिक परिवर्तन की दिशा में ही प्रयत्न करना उचित होगा। आज के बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण युग में ये बातें आधारहीन, तथ्यहीन भले ही हो, परन्तु मध्ययुगीन परिवेश में ये शत-प्रतिशत सत्य थीं। मध्यकालीन संत कबीर जैसा ओजस्वी तथा विद्रोही कवि जब इस तरह का भाव व्यक्त कर सकता है, तो भ्रम की गुंजाइश लेशमात्र भी नहीं रह पाती है, वे कहते हैं-

पूरब जनम हम बाभन होते ओछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीना॥

कबीर का व्यक्तित्व उस काल में प्रमुख रूप से एक भक्त के रूप में था। समाज सुधार उनके लिए गौण था। समीचीन नहीं है कि कबीर जिस तरह के भक्त थे, वह स्वयं में ही एक नवीन सामाजिक पद्धति एवं मानवीय समता की स्वीकृति तथा पक्षधरता का प्रमाण है। यह भक्ति मार्ग ऐसा है, जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र का अलगाव नहीं है, सभी एक ही ईश्वर की संतान है और सभी मनुष्य हैं। यदि इनकी कोई उपाधि है, तो वह भी एक है, संत या भक्त। इस साधना में ब्राह्मणों का वर्चस्व नहीं है। ब्राह्मण के महत्त्व को अस्वीकार करना, सभी वर्गों के लिए एक नये आध्यात्मिक मार्ग की खोज करना, वेद, शास्त्रों में प्रतिपादित उन मान्यताओं को अस्वीकार करना, जो ब्राह्मणों के महत्त्व को स्वीकार करती है, जो युग-युग से निर्मित सामाजिक व्यवस्था पर गहरी चोट है, इसलिए सामाजिक व्यवस्था से जुड़े हुए अनेक मुद्दों के संदर्भ में धर्म की दुहाई दी जाती थी।

संत कबीर ने ब्राह्मणों का जमकर विरोध करने के लिए धर्म की व्यवस्था में से तर्क ढूँढने का प्रयत्न किया। जाति-पांति, छुआ-छूत और ऊँच-नीच के भेद-भाव को समाप्त करने के लिए उन्होंने आध्यात्मिक तथा दार्शनिक मान्यताओं का आधार ग्रहण किया। भारतीय दर्शन का बहु-विख्यात सिद्धांत अद्वैतवाद तत्त्वत: ब्रह्म की सत्ता को सत्य और शेष को असत्य मानता है। कबीर ने दर्शन के इस सूत्र का सामाजिक समता के लिए उपयोग किया। उन्होंने कहा जब एक ही तत्त्व सर्वत्र समाज में व्याप्त है, तो भेद-भाव कहाँ से पैदा हो जाता है, वे कहते हैं-

एकहि जोत सकल घट व्यापक, दूजा तत्त्व न होई।
कहै कबीर सुनौ रे संतो, भटकि मरै जनि कोई॥

मध्यकालीन संत कबीर ने परिस्थितियों के अभिशाप से धर्म को बचाने के लिए विश्व धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा कि सबका ईश्वर एक ही है। हिन्दू और मुसलमान भले ही विविध नामों से अपने ईश्वर को पुकारे लेकिन उनके ईश्वर में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है। सत्य एक है, भले ही संप्रदाय अनेक हो। इस बात पर संत कबीर ने कहा-

हम तो एक-एक कर जाना।
दोय कहैं तिनको है दो जग, जिन नाहीं पहिचाना॥
एकै पवन एक ही पानी एक ज्योति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजन हारा॥

कबीर ने धर्म को सशक्त और सुसंगठित किया। समाज में जाति भेद की संकीर्णता जिस हद तक पहुँची

थी, उन्होंने समाज में यह भी अनुभव किया था। कबीर ने देखा कि जाति व्यवस्था को अगर शिथिल नहीं किया गया, तो धर्म की रक्षा संभव नहीं हो सकेगी। इसलिए जाति बंधन की परम्परा को तोड़ने के लिए उन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है-

जाति-पाति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का कोई।

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों दोनों ही धर्मों के पाखण्डों का विरोध कर खण्डन किया तथा उन्हें सच्चे मानव-धर्म को अपनाने के लिए प्रेरित किया। संत कबीर मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे, उनका मानना था कि जिस परमात्मा का कोई आकार नहीं, देशकाल का जिसके लिए कोई आधार नहीं, उसकी मूर्ति कैसी? अत: मूर्ति की पूजा करने वाले हिन्दुओं को फटकारते हुए वे कहते हैं-

पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चक्की भली पीस खाय संसार॥

संत कबीर की तर्कवादी सोच उनके आडम्बर विरोधी नजरिये में स्पष्ट दिखाई देती है। वे मध्यकालीन संत परम्परा से थे, इसलिए ईश्वर में उनकी गहरी आस्था थी, उन्होंने समाज में देखा कि हिन्दुओं में मुण्डन कराने की प्रथा प्रचंड रूप में विद्यमान है। विशेष रूप से मंदिरों और मठों में ईश्वर के साधक इस लालच में गंजे हो जाते थे कि इस परम्परा पर चलकर स्वर्ग तथा ईश्वर को प्राप्त करना कुछ आसान हो जाएगा। संत कबीर ने इस अतार्किक परम्परा पर जबरदस्त व्यंग्य करते हुए कहा है-

मूंड मुड़ाए हरि मिले, सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार बार के मूंडते, भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥

मध्यकालीन संत कबीर ने मुसलमानों को भी आडम्बरों के लिए फटकार लगाई है, जब उन्होंने मस्जिद के उपर चढ़कर मौलवी को अजान लगाते देखा तो व्यंग्य करते हुए पूछा कि क्या तुम्हारा खुदा बहरा हो गया है, जो नीचे से तुम्हारी आवाज नहीं सुनता है। संत कबीर ने मौलवी पर व्यंग्य कसते हुए कहा है-

काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लेई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

आधुनिकता के इस युग में भी समाज में धार्मिक आडम्बर और अंधविश्वास हर जगह व्याप्त है। इन आडम्बरों के रहते हम वैज्ञानिक स्वभाव से युक्त समाज का निर्माण नहीं कर सकते। संत कबीर आडम्बरों और अंधविश्वासों पर तार्किक सवाल खड़े करना सिखाते हैं। ऐसा वैज्ञानिक स्वभाव अगर सभी का हो जाए तो निश्चित तौर पर रूढ़ियाँ और अतार्किक प्रथाएँ स्वत: समाप्त हो सकती है। कबीर समाज में कुछ अन्य मामलों में भी नैतिक सलाह देते हैं। उनकी अधिकांश नैतिक सलाह आज भी हमारे लिए उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए, एक दोहे में उन्होंने संदेश दिया है, जो आज के उपभोक्तावादी समाज के लिए बेहद उपयोगी है-

साई उतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाए॥

कबीर ने अपने काव्य में अहिंसा की बात गहराई के साथ कही है। उन्होंने महावीर और बुद्ध की परम्परा के अलावा वैष्णव परम्परा से भी अहिंसा का सिद्धांत सीखा और अपने निजी जीवन में इसका उपयोग किया। उनका कहना है कि '**साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।**' एक कथन में कबीर ने माँसाहार करने वालों को चेतावनी दी है कि उनके द्वारा की गई पशु-बलि का हिसाब ईश्वर अवश्य लेगा। वे मजेदार सा तर्क देते हुए कहते हैं कि बकरी तो सिर्फ पत्ते खाती है और इतने से ही उसकी खाल उतार ली जाती है। संत कबीर कहते है कि जरा सोचकर देखिए, जो इंसान बकरी खाते हैं, उनका भविष्य में क्या हाल होने वाला है-

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।

जे नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल॥

कबीर की सर्व समाज को सलाह थी कि व्यक्ति को दूसरों से बातचीत के लिए अपनी भाषा को विनम्र रखकर इस्तेमाल करना चाहिए। वे इस बात को समझते थे कि अधिकांश झगड़ें, विवाद, किस्सें आदि भाषा, वाणी के दुरुपयोग के कारण ही होते हैं, न कि वैचारिक या मानसिक वैपरीत्य के कारण। इसलिए संत कबीर ने अपने काव्य के माध्यम से स्पष्ट सलाह दी है कि-

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
और को सीतल करे, आपहु सीतल होय॥

कबीर अपने काव्य में आत्म-आलोचना की भी बात करते है। आमतौर पर देखा जाता है कि लोग दूसरों की कमियाँ, गलतियाँ निकालने में उत्साहित नजर आते हैं और स्वयं की कमियों, गलतियों पर पर्दा डालते है। कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मामले में सबसे अच्छा वकील होता है और दूसरों के मामले में सबसे बुरा जज। संत कबीर समाज को निम्न मानसिकता से मुक्त कराना चाहते थे, वे समाज को सिखाते हैं कि दूसरों पर कठोर कसौटियों का प्रयोग करने की बजाय स्वयं पर करना सीख लो और अपनी कमियों को ईमानदारी से स्वीकार करने का हौंसला रखना चाहिए। एक कथन में वे कहते हैं कि-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोय।
जो दिल खोजो आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

इस प्रकार कबीर की सामाजिक चेतना या समाज सुधारक व्यक्तित्व पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था से जुड़ी हुई समस्याओं को धार्मिक तथा राजनीतिक समस्या से अलग रखकर देखा जा सकता है। एक क्षण के लिए मध्यकालीन या कबीर कालीन समाज को दरकिनार कर अपने आधुनिक समाज को देख लिया जाए तो बात कुछ अधिक स्पष्ट हो जायेगी। वर्तमान समाज की अनेक समस्याओं में से धार्मिक कट्टरता सबसे बड़ी और प्रमुख समस्या है। इसी धार्मिक कट्टरता के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की हत्या तक कर लेता है, जिसके कारण समाज में व्यक्तियों का सह-अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है, जो हमारे सामाजिक संगठन की मूलभूत आवश्यकता है।

जहाँ तक मध्यकालीन संत कबीर के समाज सुधारक होने का प्रश्न है, यह निर्विवाद सत्य है कि वे बुद्ध, गाँधी, अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, पेरियार आदि क्रांतिकारी समाज सुधारकों की परम्परा में शामिल होते हैं। एक महान समाज सुधारक की मूल पहचान यह है कि वह अपने युग की विसंगतियों की गहनता से पहचान कर, एक मौलिक व समयानुकूल जीवन दृष्टि प्रस्तावित करें तथा जीवन दृष्टि को स्थापित करने के लिए हर प्रकार के भय और लालच से मुक्त होकर दृढ़तापूर्वक संघर्ष करें।

संत कबीर मध्यकालीन संत परम्परा से थे, इसलिए ईश्वर में उनकी गहरी आस्था थी। उनकी तर्कवादी सोच उनके आडम्बर विरोधी नजरिये में स्पष्ट दिखाई देती है, परंतु अपनी सहज तार्किकता से वे समझते थे कि ईश्वर, जो अपने आप में पूर्ण है, किसी भी प्राणी से यह अपेक्षा नहीं रखता होगा कि वह उसके नाम पर बलि चढाएं, तीर्थाटन या कर्मकांड करें। अपनी इसी तार्किकता के चलते उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में प्रचलित आडम्बरों पर करारा प्रहार अपने काव्य में किया है।

संत कबीर अपने आप में पूर्ण नहीं थे, परन्तु उनके विचारों में कुछ ऐसे पक्ष मौजूद थे, जिन्हें पढ़कर चिंता होती है। उनके समय में तो उन कमियों पर ज्यादा चर्चा नहीं हुई पर आधुनिक काल में, जब प्रत्येक विचारक अनेक विचारधाराओं की कसौटियों से परखा जाने लगा है, तब संत कबीर की कमजोरी भी खुलकर सामने आने लगी है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति के विचार इतने पूर्ण नहीं होते कि उन पर सवाल न उठाए जा सकें।

समीक्षा

भक्तिकाल की शुरूआत दक्षिण भारत में हुई थी। भक्ति की यह परम्परा तभी से चली आ रही है। ज्ञानाश्रयी शाखा अर्थात संत काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि संत कबीर के काव्य में निहित सामाजिक चेतना पर सबसे गंभीर प्रश्नचिह्न नारीवादी विचारकों द्वारा लगाया गया है। कबीर के कई ऐसे पद हैं, जिनमें वे नारी की अनावश्यक निंदा करते हुए भी नजर आते हैं। दरअसल, वे मध्यकालीन जिस परम्परा में दीक्षित थे, उसमें महिलाओं को 'माया' समझा जाता था और उन पर आरोप था कि वे अक्सर पुरुषों का ध्यान भटकाने में लगी रहती थी। यह समझ नहीं आता कि कबीर जैसा महान ज्ञानी और तार्किक व्यक्ति भी ऐसी बेहूदी विचारों से कैसे प्रभावित हो गया ? आज यह सोचकर आश्चर्य होता है कि संत कबीर ने समाज में महिलाओं को कितना भला-बुरा कहा होगा। यह बात उनके एक दोहे में स्पष्ट नजर आती है, वे कहते हैं कि-

नारी की झाईं पड़त, अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, जे नित नारी के संग॥

मध्यकालीन संत कबीर ने अपने काव्य के माध्यम से सर्व समाज को विनम्र भाषा-शैली का प्रयोग करने की सलाह दी है, परन्तु स्वयं इतनी आक्रामक भाषा का प्रयोग करते नजर आते हैं कि सुनने वाला तिलमिलाकर आवेशित हो उठता हैं। यह अंतर्विरोध उनके काव्य में हर जगह तो देखने को नहीं मिलता है, परन्तु कबीर के कुछ कथनों में अवश्य झलकता है। जैसे कि एक जगह जहाँ वे किसी मुल्ले या पण्डित पर आडम्बरों या जातिवादी व्यवहार के कारण प्रहार करते हैं। कुछ लोगों का मानना है कि कबीर अपने इस गुस्से और आक्रामकता के कारण ही 'कबीर' बन सकें।

संत कबीर ने मध्यकाल में इस नश्वर जगत को झूठा घोषित किया है। वे आदि शंकराचार्य से भी प्रभावित थे, जिन्होंने सम्पूर्ण जगत को मिथ्या कहा था। संत कबीर भी ने भी अपनी साहित्यिक रचनाओं में कई स्थानों पर इस जगत को मिथ्या, झूठा सिद्ध किया है। उदाहरण के तौर पर वे कहते हैं-

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े धुलि जाना है।

मध्यकाल में संत कबीर के समय यह दृष्टिकोण चल जाता था, परन्तु आज चल पाना बहुत ही मुश्किल ही नहीं असंभव है। वर्तमान विश्व के अधिकांश लोग सैद्धांतिक तौर पर चाहे मानें या नहीं, परन्तु व्यावहारिक तौर पर समझ चुके हैं कि यह दुनिया ही वास्तविक और अंतिम दुनिया है, इसलिए इसे झूठा मानना और कहना किसी काल्पनिक दुनिया के सपने देखना निरर्थक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मध्यकालीन संत कबीर एक महान समाज सुधारक थे। जहाँ तक उनके नारी संबंधी या परलोक संबंधी विचार हैं, सर्व समाज को उनसे प्रभावित नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे सत्य धर्म के प्रतिपादक, समन्वयवादी एवं क्रांतिकारी विचारधारा वाले व्यक्ति थे। उन्होंने समाज में प्रचलित सभी प्रकार की असमानता बाह्याडम्बर एवं सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। निर्गुणोपासक संत कबीर ने जनसाधारण को सरल-जीवन, सत्याचरण, पारस्परिक एकता, समता आदि की ओर उन्मुख करने का जो साहसिक और सराहनीय कार्य किया है, उसी के परिणामस्वरूप संत कबीर मध्यकाल के एक उच्च कोटि के संत तथा महान समाज-सुधारक कहे जाते हैं।

निष्कर्ष

भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा के संत कबीर ने नाथ पंथियों की हठयोग साधना में 'भक्ति भावना' का समावेश कर उसकी नीरसता को सरसता में परिवर्तित किया है। कहा जाता हैं कि भक्ति भावना के लिए द्वैत

आवश्यक है, जो सगुणोपासना में ही सम्भव है क्योंकि निर्गुणोपासक तो आत्मा और परमात्मा के अद्वैत पर अधिक बल देते हैं। इसलिए संत कबीर की भक्ति-भावना सूर और तुलसी जैसी नहीं है। कबीर ने यह माना है कि भवसागर से पार जाने का एक मात्र साधन भक्ति है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस भक्ति के अभाव में ही मनुष्य 'भव-जल' में डूबता जाता है।

मध्यकालीन संत कबीर के काव्य में निहित सामाजिक चेतना के संदर्भ में धारणा यह बनती है कि वे समाज सुधारक थे। परन्तु संत कबीर बाह्य आडम्बर, मिथ्याचार एवं कर्मकांड के घोर विरोधी थे। वे सामाजिक मान्यताओं का विरोध करते समय सर्व-निषेधात्मक मुद्रा कभी नहीं अपनाते थे। कबीर अपने समय में प्रचलित हठयोग की साधना, वैष्णव मत, इस्लाम तथा अनेक प्रकार की साधना पद्धियों से परिचित थे, उन्होंने सभी की आलोचना की, परन्तु अपने काव्य में उनका सार तत्त्व समाहित किया। एक निर्गुण भक्त के रूप में उन्होंने शुष्क ज्ञान साधना से आगे बढ़कर संसार के साथ भावनात्मक संबंध स्थापित किया, उन्हें मानव समाज की विषमाताओं से पीड़ित होने और समाज को उबारने की छटपटाहट भी प्रदान की। स्पष्टतः मध्यकालीन संत कबीर के काव्य में निहित सामाजिक चेतना उनकी भक्ति भावना का एक प्रबल पक्ष है।

संदर्भ सूची

1. दास, अभिलाष (2020), कबीर दर्शन, इलाहबादः कबीर पारख संस्थान।
2. कबीर (2024), कबीर बीजक (मूल), न्यूयॉर्कः औरिजनल ब्लैक क्लासिक।
3. दास, डॉ. श्यामसुंदर (2024), कबीर ग्रंथावली, नई दिल्लीः शिवांक प्रकाशन।
4. सूरती, उर्वशी (2018), कबीर जीवन और दर्शन, इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन।
5. गौतम, एस.एस. (2018), संत (कबीर विचार दर्शन), नई दिल्ली, गौतम बुक सेंटर।
6. मिश्र, शिव कुमार (2020), भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, इलाहाबादः अभिव्यक्ति प्रकाशन।
7. शास्त्री, प्रमोद चन्द्र (संपादक) (2020), कबीर बीजक, वाराणसीः श्री ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार।
8. पाण्डेय, रामखेलावन (2005), मध्यकालीन संत साहित्य, वाराणसीः हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय।
9. युगलानंद, स्वामी (2022), कबीर सागर (सम्पूर्ण 11 भाग), मुंबईः खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन।
10. भाटी, प्रेम सागर (2021), कबीर साहित्य में सामाजिक चेतना का स्वरूप, नई दिल्लीः भाषा प्रकाशन।
11. सिंह, मनोज कुमार (2018), मध्यकालीन संत साहित्य में समाज और व्यक्ति, नई दिल्लीः आयुष्मान पब्लिकेशन हाउस।
12. द्विवेदी, हजारी प्रसाद (2025), कबीर व्यक्तित्व साहित्य और दार्शनिक विचारों की आलोचना, नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

4

वैदिक वाङ्मय में जीवन मूल्य

डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर
सहायकाचार्य संस्कृत (वि.स.यो. राज.सरकार)
राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा (राज.)
E-mail: drbhupendra.rathor@gmail.com

जीवनमूल्य का भारतीय संस्कृति एवं समाज में सर्वोपरि स्थान रहा है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय से जीवन मूल्य का भाव निर्धारित किया है । मूल्य का शाब्दिक अर्थ है– उपयोगिता। दर्शनशास्त्र में मनुष्य के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को मूल्य की संज्ञा दी जाती है। वेद मानव जीवन का चरम लक्ष्य 'शिक्षा' को ग्रहण करते है। धर्मशास्त्र में नैतिक–नियमों को मूल्य माना जाता है।

वेद जीवनमूल्यों के महनीय कोष है– सर्वज्ञान मयो हि सः। सामाजिक एकता, पारिवारिक सामंजस्य, सहृदयता, आज्ञाकारिता, मन की पवित्रता, सर्वकल्याण की भावना, धार्मिक सहिष्णुता, मन की शिवसंकल्पता आदि जैसे जीवनमूल्यों से वैदिक वाङ्मय परिपूर्ण है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** का जय घोष सम्पूर्ण मानवता के लिए कल्याण का सूचक है। वैदिक ऋषि व्यष्टि हितार्थ नहीं अपितु अखिल विश्व के शान्ति और कल्याणार्थ ईश वन्दना करता है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्–भद्रं तन्न आसुव।[1]

प्रेम–सौहार्द, सामंजस्य, पारस्परिक एकता, सहयोग और सद्भाव राष्ट्र की एकता और मनुष्य के आनन्दमय सफल जीवन के आधार है । यथा–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजनाना उपासते॥[2]

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[3]

हे मनुष्यों! तुम परस्पर मिलकर रहों। तुम सब एक समान हृदय वाले होकर स्वराष्ट्र में उत्पन्न धन–धान्य एव सम्पत्ति को परस्पर समान रूप से त्यागपूर्वक बांटकर भोगो। समानता और समान वितरण की भावना आधुनिक लोकतन्त्र के लिए भी आदर्श है। वेद समस्त प्राणी मात्र हेतु सुख–समृद्धि एवं शान्ति की कामना करते है– **द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥**[4] सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही पिता की सन्तान मानकर एकता एवं अखण्डता के सूत्र में बाँधने की कामना की गई है–

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥[5]

वैदिक वाङ्मय में **सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः। मातृदेवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव** आदि जैसी उदात्त भावनाएं वर्णित है।

वैदिक धर्म का मूल–आधार 'ऋत' है। ऋत के अनुसरण एवं पालन से ही संसार अपनी स्वाभाविक एवं नियमित गति से चल पाता है। ऋत सृष्टि व्यवस्था का शाश्वत नियम है। नैतिक नियमों को ऋत संज्ञा प्राप्त

है। देवता इसके पालक एवं रक्षक है। पृथ्वी सूर्य चन्द्रमा सब ऋत् के आधार पर अवस्थित है। ऋत का अनुसरण करने से पापमुक्त एवं कष्ट रहित होने की कामना है– **सुगः पन्था अनुक्षर आदित्पास ऋतयते।**[6] **ऋतस्थ नाभिरमृंत विजायते** अर्थात् ऋत की नाभि से अवृत की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि ऋषि ऋत मार्ग पर चलने का निर्देश देते है– ऋतस्य पन्था अन्वेमि साधुया।[7]

वैदिक संहिताओं में 'सत्य' एक महत्वपूर्ण जीवन मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित है। सत्य आत्मोन्नति का साधन है। पूर्णतत्व की प्राप्ति सत्य धर्म पर ही आधारित है। वेद असत्य से सत्य की ओर जाने की प्रेरण देता है– **इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।**[8] **सत्यमेव जयते नानृतम्**[9] इस धरती पर जीवन आधार सत्य ही है। सत्य का साक्षात्कार दर्शन है तो सत्य का पालन और आचरण धर्म है। सत्य शुभ– शिव–प्रकाश–निर्भय एवं अमृत का मार्ग है।

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन के चतुर्विध आश्रमों में तप का विशिष्ट महत्व है। तप सर्जनात्मक ऊर्जा का पर्याय है, तप ऋषित्व का अनिवार्य धर्म है, तप ही अमृत पथ है। तप दैवी अनुग्रह प्राप्त कर अलोक सामान्य शक्ति एवं समता को अर्जित करने का साधन है। किसी उदात्त उद्देश्य से स्वयं को तपाना ही तप है। ब्रह्मचारी तप से ही ब्रह्म का अधिकारी होता है। तप से ही गृहस्थाश्रम अमृतलोक होता है। वेदों में वर्णित है कि शुभ संकल्प होना चाहिए। जिससे व्यक्ति, समाज की उन्नति हो सकें। जिस समय शुभकर्म होता है वही हितकारी है। प्राणी मात्र से प्रेम, सर्वजनहिताय सर्वजन सुखाय की उदात्त भावना श्रेष्ठ जीवन मूल्य है।

अथर्ववेद में बताया है कि धर्म मानवीय कर्तव्य का उत्तम निदर्शन है, धर्म मानवीय सद् आचरण का द्योतक है। मानव को धर्मं चर अर्थात् धर्म का आचरण करना चाहिए । धर्म व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को धारण करता है–

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोया अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥[10]

धर्म राष्ट्रोन्नति का मार्ग है। सद्गुण मनुष्य का श्रेष्ठ धन है। यह **सर्वे भवन्तु सुखिनः, वसुधैव कुटुम्बकम्** का मूर्त स्वरूप है। व्यक्ति सद्गुणों को जीवन में अपनाने से महान् बनता है। उसमें सदाचार–विनम्रता–पवित्रता आदि गुणों का समावेश होता है।

वैदिक ऋचाओं से उत्तम दान देने की प्रेरणा मिलती है, जो श्रेष्ठ जीवन मूल्य है। उत्तम दान सत्य है, सत्य के मार्ग पर चलना, सत्य बोलना, सत्य का पालन करना एवं सद्गुणों को जीवन में ग्रहण कर दूसरों को कराना मानव मूल्य की श्रेष्ठ प्रतिकृति है। वेद सामाजिक व्यवहार एवं नीति से हमें आगे बढ़ने का नैतिक उपदेश देता है। आत्मकल्याण तथा विश्वहित साधना ही आदर्श मानव जीवन की सनातन नीति है। इस नीति के लिए शिवसंकल्प, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, शम–दम आदि यम नियमों का पालन करना आवश्यक बताया है। वैदिक नीति आदर्श नीति है। वैदिक ऋषियों ने जीवन के रहस्यों को उचित प्रकार से ज्ञात कर मानव को अतीत से प्रेरणा, वर्तमान से उत्साह एवं भविष्य से आशा, जो धर्म एवं सत्य पर आधारित हो की ओर प्रेरित किया है। यजुर्वेद में– **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।**[11] शताब्दी पर्यन्त कर्म करते हुए जीवित रहने का कल्याणप्रद सन्देश है। हम किसी भी जीव की उपेक्षा न कर सबको स्नेह एवं आदर भाव प्रदान करें– **मां जीवेभ्य प्रमदः।**[12] सभी जीव मित्र सदृश एवं कल्याण प्रद हो इस भावना से परिपूर्ण होकर जीओ और जीने दो का उद्घोष मानवीय सुख–शान्ति के लिए परम आवश्यक है। ऋषियों ने ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कहा है कि– हे ईश्वर आप हमें असत्य से

सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश, मृत्यु से अमरता की ओर प्रेरित करें– **असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।** अथर्ववेद मानव को पाप कर्म से दूर रहने का संदेश देता है– **परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।**[13]

उपनिषद् नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों की जननी है। उपनिषद् हमें नैतिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए निरन्तर उत्साहित करते है। नैतिक मूल्यों का स्रोत आत्मा ही है, आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानना आवश्यक है। उपनिषदों में वर्णित है– सत्य बोलना, सत्य के मार्ग पर चलना, तप, यथार्थज्ञान, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता आदि आवश्यक गुण है। इन्हीं सत्य, सदाचार, मधुरता, आत्मज्ञान, परोपकार, सत्कर्म, सुख आदि गुणों के आधार पर विवेकशील बुद्धियुक्त, संयमित और पवित्र रहते हुए मनुष्य परमपद को प्राप्त कर सकता है। ईशावास्योपनिषद् में भोग एवं त्याग दोनों का समन्वय है। आधुनिकता के युग में विनम्रता, धैर्य और विवेक बुद्धि का सन्देश देती हुई केनोपनिषद् अपना विशिष्ट स्थान रखती है। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान्निबोधत**[14] अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करो। कठोपनिषद् विवेकबुद्धि को विशेष महत्व देती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मनुष्य मन, संकल्प और कर्म का समीकरण मात्र है। विश्व शान्ति एवं विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से ओत–प्रोत वैदिक मन्त्रों में मानव मात्र के लिए सौहार्द –मित्रता, समानता–संगठन एवं सहायता की भावना जीवनमूल्य है। वैदिक मन्त्रों में सभी मनुष्यों का सभी प्राणियों के माता–पिता के रूप में परमेश्वर या किसी देव विशेष का स्तवन किया गया है। **त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।**[15] एवं **स नो बन्धुर्जनिता स विधाता**[16] अर्थात् हम सब प्रजापति की सन्तानें है तथा वही हमारा बन्धु,जनक एवं विधाता है।

विश्वकल्याण एवं राष्ट्रीय भावना का यही जीवन्त दृष्टिकोण है। जब माता–पिता समान है तो सन्तानें असमान कैसे हो सकती है? **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** मन्त्र समाज की उन्नति का आधार है। जनों में सहृदयता, समानमनस्कता और विद्वेषशून्यता ही समानता के मूलाधार है। अद्विवेषम् अर्थात् द्वेषराहित्यम् या भेदभाव का अभाव ही मानवीय व्यवहार का आदर्श मूल्य है। कर्मों की समानता भी सामाजिक प्रगति का आधार है । मानसिक संकीर्णता को त्यागकर व्यापक दृष्टि का ग्रहण सबको समान समझने पर ही आधारित है। सबके साथ सहानुभूति, सहयोग प्रेम और उपकार के व्यवहार आचरणीय है। एक दूसरे की सर्वदा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का प्रमुख कर्तव्य है– **पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः।**[17] वाणी की मधुरता से एकता और सद्भावना अधिक बलवती होती है। मधुमती वाचं वदतु। किसी समाज के जनों मे भावात्मक एकता या किसी राष्ट्र के निवासियों में राष्ट्रीय चेतना का मूलतत्व उन लोगों में एक दूसरे के प्रति पाई जाने वाली होती है। **जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथोकसम्**[18] यहाँ अनेक धर्मों के अनुयायी, अनेक भाषा–भाषी लोग एक घर में रहने वालों के समान एकता के सूत्र में बधंकर रहते हैं। अतः कामना है कि हमने कोई भी किसी के प्रति द्वेष न करें। इस प्रकार वेदों में देशभक्ति और राष्ट्रीयता को उद्बोधित करने में मानवीय समानता की भावना का योगदान स्वीकार किया गया है। मानव की सुख शान्ति प्राप्त करने की इच्छा रहती है। वेद में स्पष्ट प्रार्थना है– **सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वेसन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाग्यवेत्।।**[19] सुख की पराकाष्ठा शक्ति है। सत्कर्म ही सदाचारी मनुष्य के लिए अभिप्रेत है, जिसमें सर्व कल्याणनिहित है। ईश्वर भी पुरुषार्थी व्यक्ति का सहायक होता है।

पृथिवी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है– **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**।[20] इसी भावना से राष्ट्रीय निर्माण के जीवन मूल्य अंकुरित होते है। **नमो मात्रे पृथिव्ये। नमो मात्रे पृथिव्ये।**[21] यह प्रणाम भाव ही राष्ट्र के प्रति प्रत्येक जन का स्वाभाविक कर्तव्य है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि सम्भव है। प्रत्येक जन की स्व–स्व भावना के अनुसार पृथक–पृथक संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती है, परन्तु उन सबका मूल–आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय है, जो प्रत्येक जन का मानवीय मूल्य है। स्वर्ग और अपवर्ग भारतीय जीवन के दो आदर्श है, यह भारतीय दर्शन की स्व विशेषता है। **ऋद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः** अर्थात् समस्त भौतिक सुख और समृद्ध राज्य धरती पर स्वर्ग है। सब भौतिक सुख और समृद्धि से संयुक्त राष्ट्र की उपलब्धि स्वर्ग है और उन सुखों का त्याग मोक्ष है। यह भारतीय संस्कृति का जीवन मानवीय आदर्श है। मातृभूमि का हृदय परब्रह्म में स्थित है। मातृभूमि हमें राष्ट्र मे बल और ब्रह्म तेज को देने वाली हो। **योग क्षेमों नः कल्पताम्। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।** पृथिवी स्वयं क्षमाशीलधात्री है। वह क्षमा और सहिष्णुता का सबसे बड़ा आदर्श उपस्थित करती है। **गुह्य ब्रह्म तदित ब्रवीमि, नहीं मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।** अतिथि–सेवा, दया, करुणा, प्रेम और मानवता का ही साकार रूप है जो व्यक्ति अतिथि का सत्कार करता है, वह सुखमय जीवन व्यतीत करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम तक वह ऋणों से मुक्त हो जाता है। सत्य नैतिकता का मुख्य आधार स्तम्भ है। जिसको धर्म कहते है, वह सत्य है। सत्य में परमत्व का निवास होता है। जीवन का लक्ष्य नैतिक ऋत् व्यवस्था का पालन करते हुए सुख और सम्पत्ति प्राप्त करना ही था। वर्ण व्यवस्था कर्तव्य एवं योग्यता आधारित है। धर्म सूत्र में दैनिक जीवन के लोकव्यवहार सम्बन्धित विधान का निदर्शन है। धर्मसूत्रों के नैतिक नियम जीवन के व्यापक क्षेत्र को स्पर्श करते हैं।

वैश्वीकरण के इस युग में बाह्य रूप से यद्यपि पूरा विश्व एक परिवार बन गया है तथापि मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं की दृष्टि से ऐसा कदापि नहीं है। **मित्रस्याहंचक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, तेन त्यक्तेन मुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद् धनम्** इत्यादि संस्कृत साहित्य में प्रतिपादित ये भावनाएँ भौतिकता के द्वारा ग्रसित कर ली गई है। आज का स्वार्थपरायण मनुष्य इदन्न मम के स्थान पर सर्वमिदं मम में विश्वास रखता है। **चरैवेती–चरैवेती** का मूलमन्त्रं सबको परिश्रमी, उद्यमी, साहसी, कर्मनिष्ठ एवं क्रियाशील होने की प्रेरणा देता है।

राष्ट्रिय भावना सदा ही जनता के धार्मिक–आर्थिक–सामाजिक–सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टिकोणों को प्रभावित करती है। संस्कृत में वेदों से विस्तृत राष्ट्रीय चिन्तन में सर्वप्रथम राष्ट्र सुरक्षा एक सामाजिक कर्तव्य है। अपनी संस्कृति की रक्षा करना भी राष्ट्र प्रेम राष्ट्रहित है। रामायण, महाभारत जैसे आर्ष ग्रन्थों में राजधर्म का उपदेश सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। वैदिक वर्ण व्यवस्था व्यवसाय पर आधारित थी। योग्यता और क्षमता को देखकर व्यवसाय निश्चित किया जाता है। गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है– **चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः** भारतीय संस्कृति का जीवन्त मानवीय मूल्य है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम व्यवस्था सुख–शान्ति समन्वित जीवन–यापन के लिए है।

पुरुषार्थ चतुष्ट्य का पालन करते हुए **भोग योग परो भव, यतोऽभ्युदय निश्रेयस्सिद्धिः, स एवं धर्मः** में तत्पर रहते हुए मनुष्य संतुलित जीवन व्यतीत करता था परन्तु वर्तमान मे इस जीवन मूल्य का ह्रास

दिखाई देखा है। नैतिक मूल्यों की अवधारणा करने वाले कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त का संस्कृत वाङ्मय में पुनः-पुनः विविध प्रकार से प्रतिपादन किया है। वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान संस्कृति है-

स नः पितेव सुनवेऽग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये॥[22]

वैदिक संस्कृति में धन प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य दान देना ही था उनके अनुसार अकेला खाने वाला केवल पाप को ही खाता है- केवलाघो भवति केवलादी। दानशीलता एवं उदारता को सुख एवं समृद्धि की आधारशीला माना है। भारतीय संस्कृति अत्यन्त व्यावहारिक है। **शठे शाठ्यं समाचरेत्** इस नीति में पूर्ण विश्वास जीवन को प्रभावित करती है। आशा नवजीवन का संचार है। मन-वचन और कर्म की अकुटिलता मनुष्य में आत्मविश्वास का द्योतक है। आत्मविश्वास से युक्त मनुष्य सर्वथा सक्षम होता है- **आत्मना विन्दते वीर्यम्। सचस्वा नः स्वस्तये** में अग्नि अर्थात् प्राणतत्व से प्रार्थना है कि हम यजमान प्राणतत्व, संकल्पशक्ति, ऊर्जा, आत्मविश्वास इत्यादि से कभी पृथक न हो। जीवन में जब कोई संघर्ष अथवा कठिनाई उत्पन्न होती है, तब भी जिसका मनोबल 'आत्मविश्वास' बढ़ा हुआ है, वही साहसपूर्वक उसका सामना कर पाता है। जीवन संघर्षों मे सफलता प्राप्ति में मन की अत्यन्त महत्वपूर्ण भमिका है। उद्यम एवं परिश्रम से ही सुख प्राप्ति सम्भव है, केवल इच्छा मात्र से नहीं- **न कामेन पुनर्मधो भवामि।**

वैदिक संस्कृति मे प्रेम, दया, करुणा, श्रद्धा, सेवा, कल्याण जैसे सार्वदेशिक और सार्वकालिक मूल्यों की भी अभिव्यक्ति हुई है। विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से युक्त वैदिक मन्त्रों मे मानव मात्र के लिए परस्पर सौहार्द, मैत्री तथा सख्यभाव की कामना की गई है। सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण एवं विश्व बन्धुतव की भावना से भी देववाणी समग्र रूप से अभिव्याप्त है, नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संस्कृत शिक्षा निर्विवाद रूप से उपयोगी है-

संस्कृताधीतिनः सन्तु सर्वेभारतभूमिजाः।

संस्कृतेनैव कुर्वन्तु व्यवहारं परस्परम्।

संस्कृत ज्ञानमासाद्य संस्कृताचार वृत्तेयः।

सर्वतः संस्कृतीभय सुखिनः सन्तु सर्वतः॥[23]

सन्दर्भः

1. यजुर्वेद -30/3
2. ऋग्वेद -10/191/2
3. ऋग्वेद -10/191/4
4. शुक्ल यजुर्वेद-36/17
5. ऋग्वेद -1/1/9
6. ऋग्वेद -1/41/4
7. ऋग्वेद- 66,13
8. शुल्क यजुर्वेद मा.स.- 1/5
9. मुण्डक- 3/1/6
10. ऋग्वेद -1/22/18
11. ईशावास्योपनिषद- 2
12. अथर्ववेद- 8/17
13. अथर्ववेद-6/45/2
14. कठोपनिषद्।
15. ऋग्वेद- 8/98/21
16. वा.सं. 32/10
17. ऋग्वेद- 6/75/14
18. अथर्ववेद-12/1/45
19. शान्ति मंत्र।
20. अथर्ववेद।
21. अथर्ववेद।
22. ऋग्वेद-1/1/9

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

5

सबदवाणी में सामाजिक मूल्य

डॉ. कल्पना बिश्नोई
असिस्टेंट प्रोफेसर, मायादेवी महाविद्यालय,
देहरादून

प्रत्येक देश का उत्थान और पतन उस देश के निवासियों की सामाजिक चेष्टा और आचार का प्रतिफल ही होता है। अत: समाज के उन्नायक विधि विधानों की आवश्यकता प्रत्येक समाज में बनी रहती है जिन्हें 'सामाजिक मूल्य' से अभिहित किया जाता है। सामाजिक मूल्य समाज के लक्ष्य, आदर्श तथा कुछ निश्चित व माननीय व्यवहार प्रतिमान या मान (standard) को प्रस्तुत करते हैं। ये मूल्य हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और उन्हें हम अपने सामाजिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण समझते हैं। इन मूल्यों की एक सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। सांस्कृतिक तत्व-धर्म, दर्शन, कला साहित्य और समाज इन्हीं सामाजिक नैतिक मूल्यों के संरक्षण में पनपते हैं।

भारतीय सामाजिक जीवन की नैतिकता की व्याख्या वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा विविध दर्शनों, महाकाव्यों में सन्तों तथा चिन्तकों द्वारा की गई है। समाज को साधने में सन्तों और गुरुओं का विशिष्ट योगदान है। इन्होंने भारतीय जीवन की नैतिकता की व्याख्या, धार्मिक अनुभवों, व्यवहारिकता तथा अनुभूतियों के आधार पर की। ऐसे संतों में 15वीं सदी में राजस्थान की मरूधरा पर गुरु जंभेश्वर जी एक अग्रणी सन्त हुए हैं। 'सबदवाणी' ग्रंथ गुरु जंभेश्वर जी की शिक्षाओं का संग्रह है जिसमें मानवीय मूल्यों को सामाजिक सरोकारों से जोड़ते हुए अनेक सबद वर्णित हैं। गुरु जंभेश्वर जीने तत्कालीन समाज के लोगों के जीवन की धार्मिक एवं सामाजिक विकृतियों एवं विद्रूपताओं को पहचाना तथा उन्हें दूर करने हेतु सार्थक प्रयास किये। वे समाज के जागरूक प्रहरी थे तथा उन्होंने समाज में समानता, वर्ण विहीनता, धार्मिक बुराइयों से रहित समाज निर्माण का कार्य किया।

आडंबर विरोध व धार्मिक उन्नयन

सदियों से समाज को शिक्षित करने की सबसे बड़ी संस्था धर्म ही रही हैं। अत: एक समाज सुधारक एवं शिक्षाविद् की भांति गुरु जंभेश्वर जी ने सबसे पहले विविध पंथों एवं धर्मों में आयी विकृति के परिमार्जन की चुनौती को स्वीकारते हुए धर्म के यथार्थ तत्व से लोगों को परिचित कराया और धार्मिक आडंबर से ढके आध्यात्मिक मूल्यों को पहचानने एवं अपनाने का संदेश दिया। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम परमतत्व तक पहुंच बनाने हेतु अपनाए गए कुमार्गों की निंदा की-

भूत परेती कांय जपीजै, अह पाखंड परवाणौं।[1]
जती तपी तक पीर रषेसर कांय जपीजै, ते पंणि जाया जीयौं
खेचर, भूचर खेतरपाळा परगट गुपता कांय जपीजै, ते पंणि जाया जीयाँ
वासिग सेस गुणिद फुणिंदा कांय जपीजै, ते पंणि जाया जीयाँ
चौसटि जोगंणि बांवन वीरूं कांय जपीजै, ते पंणि जाया जीयाँ
जपा त एक निरालंभ सिंभू, जिंहके माई न पीयौं।[2]

उक्त सबद में गुरु जंभेश्वर जी निराकार ब्रह्म को ही परम तत्व के रूप में निरुपित करते है। उन्होंने भूत-प्रेत, जती, तपस्वी फकीर, पीर, आकाशचारी, पृथ्वी पर विचरण करने वाले, भैरव, प्रकट और गुप्त रहने वाले, चौसठ योगिनी व बावन वीर आदि की उपासना करने वाले और सिद्धियां प्राप्त करने के लिए प्रयासरत लोगों को भटकाव के प्रति सचेत किया और परम तत्व की प्राप्ति का सच्चा मार्ग दिखाया-

दिल साबति हज काबो नेड़ी क्या ऊबंग पुकारो ?
ज्यौं थे पछिम दिसा ऊबंग पुकारो भळ जे ऊं चीन्हूं रहिमांणों
तो रूह चलते पिंड पड़ते आवै भिस्त विवाणों
चड़ि चड़ि भींते मड़ी मसीते, क्यूं ऊबंग पुकारो ?[3]

गुरु आगे कहते हैं कि जोर-जोर से पुकारने, शब्दों की गूंज पैदा करने से परम तत्व प्राप्त नहीं होता। एक पवित्र हृदय उस परम तत्व तक आसानी से पहुंच बना सकता है फिर यह आडंबर और दिखावा क्यों ?

आयसां! म्रगछाळा पावड़ी कांय फिरावो ?[4]
आयसां! काहै काजै खेह भकरूडो सेवो भूत मसांणी ?
जोगी जंगम नाद डिगंबर संन्यासी ब्राह्मण व्रंभाचरी
मनहठ पढिया पिंडत, काजी मुल्ला खेलैं आप दुवारी[5]
काया त कंथा मन जोगूंटो सींगी सास उसासू।
हमहीं जोगी हमहीं जती हमहीं सती हमहीं राखिबा चितूं।
पांच पटण नव थांन सझिले, आदिनाथ का भगतूं।[6]
धवणां धूजै पाहण पूजे, वेफुरमाण खुदाई।[7]
ते पूज्या कळि थानूं, सेई वसै सैतानूं।[8]

सभी धर्मों के एक ही लक्ष्य, मूल तत्व का परिचय देते हुए उन्होंने तांत्रिकों, सिद्धों, नाथपंथियों हिंदु-मुसलमानों, भिक्षुओं, दिगंबरों में व्याप्त धार्मिक प्रदर्शन व मूल्य ह्रास पर कटाक्ष करते हुए उन्हें उनके कर्तव्यों व आचरण के प्रति सचेत किया। प्रदर्शन के साथ जब स्वयं की श्रेष्ठता का भाव और अहंकार जुड़ जाते हैं तो आडंबर में परिणत हो जाता है। तत्कालीन समाज में हर कोई अपने धर्म-संप्रदाय को श्रेष्ठ मानते हुए बढ़-चढ़कर प्रदर्शन और सिद्धि का दावा करते हुए धर्म के वास्तविक तत्व को भूल चुका था।

धार्मिक स्थलों पर होने वाली लूट खसोट व आडम्बरों की पराकाष्ठा के संदर्भ में अत्यंत सार्थक भविष्यवाणी कलयुग के परिप्रेक्ष्य में गुरु जंभेश्वर जी ने की है।[9] सबदवाणी ग्रंथ के अन्य सबदों में वर्णित है-

गुर की कलम कुरांण पिछांणी।
दीन गुमांन करैलो खाली ज्यौं कंण घातै घुंण हांणी
वेद कुरांण कुमाया जाळू भूला जीव कुजीव कुजांणी।[10]

भाव यह है कि सभी धर्म एक ही सत्ता का परिचय देते हैं। धर्म की भ्रामक व्याख्या धर्म के मूल तत्व को पहचानने में सबसे बड़ी बाधा है। शाश्वत ज्ञानकोष वेद और कुरान जैसे ग्रंथों के गूढ़ ज्ञान से इनमें श्रद्धा रखने वाले भी दूर ही हैं। जैसे घुन (कीट) अनाज के दानों को थोथा कर देते हैं- हानि पहुँचाते हैं, वैसे ही मनुष्य धर्म व मजहब को झूठे गुमान में थोथा कर देते हैं, निस्सार बना देते है। अतः अपने अपने धर्म ग्रंथों के शब्दों को पकड़ने के स्थान पर भावों को ग्रहण करने की सीख ऐसे धर्मनिरपेक्ष सामाजिक मूल्यों की ओर संकेत है जो समाज को भटकाव से बाहर निकाल सर्व धर्म समभाव की प्रेरणा देते हुए धार्मिक भेदभाव और उससे उत्पन्न सामाजिक असंतुलन और तनाव को हेय घोषित करते हैं।

मानवीय दुर्गुण निवारण

व्यक्ति की उन्नति और गुणवत्ता पर समाज की उन्नति और उत्तमता निर्भर है। अतः व्यक्तित्व का समाजोचित विकास समाज का प्रधान कर्तव्य है जिसके लिए समाज शिक्षा की व्यवस्था करता है। मूल्यों के संबंध में शिक्षा की दोहरी भूमिका है, मूल्यों की प्राप्ति तथा साथ ही अपमूल्यों का अवमूल्यन। सबदवाणी में यत्र तत्र मानवीय दुर्गुणों कायथोचित समाधान युक्त

वर्णन गुरु जंभेश्वर जी के समाज मनोविज्ञान के ज्ञान को सूचित करता है–

जां जां दया न धरमूं तां तां विक्रम करमूं
जां जां पाळ्या न सीलूं तां तां क्रम कुचीलू।[11]
कूड़ तांणि ज क्रतब कीयौ ना ते लाव न सा' यौ
भूलै प्राणी आळवखांणी न जंप्यौ सुर रायौ
छंद कहां त वोहता भाव खरतर को पतियायौ ?[12]
कारण खोटा करतब हीणां धारी खाली पड़ी निवाजूं
किंह ओजू तम धोवो आप ? किंह ओजू तम खंडो पाप ?
किंह ओजू तम धरो धियान ? किंह ओजू चीन्हूं रहमान ?
रे मुल्ला मन मांहीं मसीत निवाज गुजारियै
सुणंता नाहीं क्या खरै पुकारियै ?
अलख न लखियौ खळक पिछांण्यौं, चाम कट्यै क्या हुइयो ?[13]
दुनीं तणां अवचाट भी झाग्या, के के नुगरा देता गाळ गहीरूं।[14]
उमाज गुमाज पंज गंज यारी, रहिया कुपहिया सैतांन की यारी।
सैतांनलो सैतांनलो सैतांन बहो जुग छळियौ सैतान लोड़त रळियौ।
सैतान के कबध्या न खेती कळंण मध्ये कळंण।[15]
मक्रि भूला मांड पिरांणी, काचौ कंध अगाजू।
काचा कंहा गळे गळि जायस्यै, वीसरिजला राजू।
डरि उरि जीव के काजै।[16]

उपरोक्त वर्णित सबदों में मानवीय दुर्गुणों का वर्णन है, वही मानव के अकरणीय कर्मों का वर्णन किया गया है। दुर्गुण जनित कर्म के परिणामों का वर्णन करते हुए गुरु जंभेश्वर जी ने समाज को चेताया है।[17] दया, धर्म व शील पालन का अभाव, असत्य भाषण निकृष्ट कर्म और उनको सिद्ध करने के खोटे साधन, हिंसक कर्म करने के उपरांत वाह्य शुद्धि और ध्यान–उपासना के रूप में आंतरिक शुद्धि का ढोंग, शुद्ध बुद्ध हो जाने का भ्रम किए गए निकृष्ट कर्मों का लोप नहीं कर सकता। यह सर्वथा अज्ञान जनित भ्रम है। ज्ञान व सत्संगति के अभाव में किसी एक दुर्गुण के रहते हुए भी दुष्कर्मों का ऐसा चक्र आरंभ होता है जिसमें व्यक्ति दलदल में धंसने के समान अधोगति को प्राप्त होता है। संचित करने योग्य तो सुकर्म ही है। कुछ सबदों में गुरु जंभेश्वर जी ने ऐसे छोटे–छोटे कर्मों का उल्लेख किया है जो मनुष्य के लिए शोभनीय नहीं है अर्थात् उनको नहीं करना चाहिए।[18] **दुनीं तणां अवचाट भी झाग्या के के नुगरा देता गाळ गहीरूं।**[19] अर्थात् मन के अनुकूल कार्य न होने पर लोग गहरी गहरी गालियां भी देते हैं। आज समाज में क्रोध के अतिरिक्त हंसी मजाक में भी गाली गलौज करने का चलन आम है जिसकी गुरु जंभेश्वर जी ने निंदा की है। दुर्गुणी व्यक्ति को गुरुजी ने कुजीव कहां है और उसकी तुलना काली ऊन से की है। सद्गुणों को ग्रहण करने के लिए कफ विवरजत रूइयो, सेतूं अर्थात् उज्ज्वल श्वेत रुई के समान दुर्गुण व विकार रहित होना आवश्यक है तभी व्यक्ति मूल्यों व गुणों की धारणा करने में सक्षम हो सकता है।[20]

अहिंसा मूल्य

अहिंसा मूल्य भारतीय जीवन दर्शन, धर्म, संस्कृति का एक प्रधान मूल्य है। महाभारत महाकाव्य में अहिंसा मूल्य को सभी मूल्यों का सिरमौर बताया गया है–

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौसरे ॥
एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः परा।
कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसैष च ॥[21]

जैसे पैर से चलने वाले जीवों के क्षुद्र पदचिह्न हाथी के पदचिह्न में लीन होते हैं वैसे ही इस जगत में अहिंसा में सब धर्म समाविष्ट हुआ करते हैं; अर्थात् सब धर्मों के बीच अहिंसा श्रेष्ठ रूप से वर्णित हुई है। हिंसा का भाव सभी सामाजिक बुराइयों का आधार है। सार्वभौमिक उदारता व प्रेम अहिंसा के भाव पर आश्रित है जिस कारण घृणा व अन्याय की कोई गुंजाइश ही

नहीं रह जाती। समाज की तो बात ही क्या, अंर्तसामाजिक व अंर्तसांस्कृतिक विद्वेष भी समाप्त करने में अहिंसा एक उदात्त मूल्य है। अहिंसा मूल्य का महत्व गुरु जंभेश्वर जी के जीवन दर्शन में सर्वोपरि है। सबदवाणी में आंतरिक और बाह्य अहिंसा का वर्णन कई सबदों में देखने को मिलता है। गुरु जी के द्वारा संस्थापित पंथ के 29 नियमों में कई नियम अहिंसा मूलक है–

जीव दया पालणी, रूंख लीला नहीं घावै।
अमर रखावै थाट, बैल बधिया न करावै।
क्षमा दया हिरदै धरो, गुरु बतायो जांण।
पाणी बाणी ईन्धणी, दूध ज लीजै छांण।[22]

ये सभी नियम दया की वृद्धि करके जीव की पीड़ा को हरने व जीव संरक्षण से संबंधित है। जल, थल आदि में सर्वत्र ही सूक्ष्म जीवों के होने व उनके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अत्यंत संवेदनशील दृष्टिकोण को अपनाते हुए ये नियम आज से लगभग 500 वर्ष पूर्व बनाए गए। धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा की कटु आलोचना करते हुए गुरु जंभेश्वर जी ने लोगों को चेताया कि मानव सक्षम होते हुए भी अन्य जीव–जंतुओं के लिए अपने कर्तव्य को भूल चुका है। दुधारू पशुओं के लिए मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिए किंतु अपने बढ़े हुए स्वार्थ की पूर्ति हेतु वह उनके गले पर भी छुरी चलाता है।[23] श्री कृष्ण भगवान प्रेम भावसे पशु चारण व गौ पालन करते थे जो इस बात की शिक्षा प्रदान करने के लिए पर्याप्त उदाहरण है कि हमें ऐसे जीवों का कृतज्ञ होना चाहिए। गुरुजी चेताते हुए कहते हैं– हिंसक प्रवृत्ति के रहते स्वर्ग की कामना से उलट बुरे परिणाम भुगतने होंगे।[24] गुरु जंभेश्वर जी आगे कहते हैं कि जैसे हमें अपने प्राण व हाड मांस का शरीर प्यारा है, ऐसे ही अन्य जीवों को भी वह प्रिय है।[25] **जीव विणासै लाई कारणि लोभ सवारथि। खायबा खाज अखाजूं**[26] अर्थात् अखाद्य पदार्थों का भक्षण बंद करो। **और कूं जिबह करि आप कूं पोषणा**[27] अर्थात् दूसरों के मांस से अपने मांस का पोषण मत करो। शास्त्रों में भी यही बात कहीं गई है–

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नारदः प्राह धर्मात्मा नियतं सोऽवसीदति॥[28]

अर्थात् जो पुरुष दूसरे के मांस से निज मांस की वृद्धि करने की इच्छा करता है, यह सदा दु:खी होता है। गुरु जंभेश्वर जी ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मांस भक्षण की निंदा की है। हिंसा सात्विक भाव का नाश करती है। समाज को अराजक बनाती है। अहिंसा जैसे श्रेष्ठ मूल्य को स्थापित करने में सबदवाणी अग्रगण्य ग्रंथों में से एक है।

सत्संगति के द्वारा मानवीय मूल्यों का उदात्तीकरण

सत्संगति व्यक्तित्व परिमार्जन का निमित्त कारण होने से सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है।

मानवतावादी नीतिकार कौटिल्य ने संसार रूपी विशाल वृक्ष के दो फल कहे हैं जो अमृत के समान मधुर तथा सेवन करने योग्य हैं– पहला सुभाषित अर्थात् मधुरवाणी दूसरा सज्जन व्यक्तियों का संग जिससे व्यक्ति का कल्याण होता है–

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सज्जने जने॥[29]

साधु संगति के सन्दर्भ में जाम्भोजी की वाणी की समीक्षा निम्न श्लोक के आधार पर की जा सकती है–

लोहे हुता कंचंण घड़िया घड़िया ठांव सुठाऊं
जाटां हूंत पात करीलो औ किसन चिरत परवाणों
बेड़ी काठ संजोगे मिळिया खेवट खेवा खेवूं।
लोहो नीर किसी परि तरिबा; उतिम संग सनेहूं
विणि क्रीया रथि वैसैला; ज्यू काठ संगीणी लोहो नीर तरीलो[30]
उतिम संग सु संगूं, उतिम रंग सु रंगूं
उतिम लंग सु लंगूं, उतिम ढंग सु ढंगूं

उतिम जंग सु जंगूं, तांथै सहज सु लीलूं
संजम संपुथूं मरतकि मोख दवारूं[31]

उपरोक्त पदों में गुरु जांभोजी ने अज्ञानी, दुर्गुणी मानव के उदात्तीकरण हेतु सत्संगति की महिमा को विविध उदाहरणों के द्वारा निरूपित किया है।

मानवीय एकता

अनेकता में एकता के भावों की सृष्टि करने से अद्वैत दृष्टि का विकास होता है। सर्वत्र अनेकता व्याप्त है, इस अनेकता में आज एकता की दृष्टि लानी होगी। सामाजिक एकता के लिए इस अद्वैत दृष्टि के भाव को महत्वपूर्ण मूल्य स्वीकार करना होगा। स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा के द्वारा अद्वैत दृष्टि के विकास को महत्व दिया है। 'सभी मनुष्य आज इस महान् सत्य (मानवीय एकता) के एक बिन्दु की भी उपलब्धि कर सकें, तो उनके लिए यह सारा जगत् एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा और यह सब झगड़ा समाप्त हो शान्ति का राज्य आ जाएगा। यह घिनौना उतावलापन, यह स्पर्धा, जो हमें, अन्य सबों को ठेलकर आगे बढ़ निकलने के लिए बाध्य करती है, इस संसार से उठ जाएगी। इसके साथ-साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या एवं सभी प्रकार का अशुभ सदा के लिए चला जाएगा। उस समय देवता लोग इस जगत में वास करेंगे। उस समय यही जगत स्वर्ग हो जाएगा।'[32]

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार भी अभिन्न सत्ता में भिन्नता का बोध अज्ञानता का परिणाम है। ब्रह्म ज्ञानी गुरुजी ने इस सर्वव्यापक परम ज्योति को पहचानते हुए उपदेश दिए हैं-

भवणि भवणि म्हारै एका जोती। चुणि चुणि लीया रतनां मोती[33]
रूप अरूप रमूं प्यंड ब्रहमंडयै घटि घटि अघट रहायौ।[34]
जां जां भेदानभेदूं , तो सुरगे किसी उमेदूं?[35]
विसमल्ला रहमान रहीम, जिंहके सिदके भीनांभीन,
तो भेंटीलो रहमान रहीम करीम कया दिल करणी,
हम दिल लिला तम दिल लिला रहम करै रहमानूं[36]

उपरोक्त सबदों का भाव है कि भवन रूपी प्रत्येक देह में एक ही चेतना व्याप्त हैं और यदि भेद दृष्टि से हम प्रत्येक प्राणी को देखते हैं तो इस भेदभाव से द्वेष भाव उत्पन्न होता है, ऐसे में हम दिव्य लोक की कामना नहीं कर सकते अर्थात् मानव जीवन का उदात्तीकरण संभव नहीं है। मुस्लिम धर्म की शिक्षाएं भी भिन्न में अभिन्न सत्ता के दर्शन का ज्ञान देती है। गुरु जी के अनुसार परस्पर भेंट होने पर एक-दूसरे को सलाम अलेकम या प्रणाम करके हम उस एक ज्योति को ही नमन करते हैं। अर्थात् प्रणाम करना कोई औपचारिकता नहीं वरन उस मानवीय एकता की पहचान व सम्मान है जिसे तत्वदर्शी इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः॥[37]

जो सबकी आत्मा को अपनी ही आत्मा मानता है, सब प्राणियों को आत्मस्वरूप से तत्त्व ज्ञान दृष्टि द्वारा देखते हैं, उन गमनागमन से रहित ज्ञानी की गति का पता लगाने के लिए देवता लोग भी मुग्ध होते हैं।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समता मूल्य

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः' का सिद्धान्त मानव समाज का आधार है। अनेक भेद और नानारूप विभिन्नताओं के होते हुए भी समाज की दृष्टि में मनुष्यत्व के नाते सबसे समवेदना और समभूति का भाव रखना अत्यन्त आवश्यक है। समता का व्यवहार प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक मांग है अतः सामाजिक समता भी मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार व एक सामाजिक मूल्य हैं। जाति-पाति, वर्ग भेद और जन्म-सम्बन्धी विषमताओं को हटाकर मनुष्यता के नाते 'समानता' का स्थापन करना सामाजिक समता है। जन्म, सम्पत्ति और उत्तराधिकार के घमण्ड में कोई

किसी को नीच कुल का या मामूली, अयोग्य न समझे। मध्यकाल में ऐसे चिंतनशील, स्त्री पुरुष की समानता की सोच रखने वाला संत अत्यंत उच्च एवं प्रगतिशील विचारों का धनी होगा–

तइया सासूं तइसा मासूं, रगत् रुहियूँ खीरूं नीरूं।
ज्यौ करि देखूं, न्यान अंदेसू भूला प्रांणी कहैं स करणों
अईअमांणों तंत संमाणों पुरुष न लेणांनारी[38]
जां जां भेदानभेदू; तो सुरगे किसी उमेदूं ?[39]
तह्या सासू तइया मांसू तह्या देह दमोई
उतिम मधिम क्यौ जांणीजै विवरसि देखौ लोई।[40]
सुणि राजिंदर, सुणि जोगिंदर, सुणि सेखिंदर, सुणि सोफिन्दर
सुणि काफिंदर, सुणि चाचिंदर सिंघ के साथ क हांणी
झूठीकाया उपजत विणसत; जां जां नुगरे थिति न जांणी।[41]

गुरु जंभेश्वर जी ने स्पष्ट कहा कि आत्म तत्व लिंग रहित है अत: स्त्री पुरुष की काया के आधार पर भेद दृष्टि रखना ठीक नहीं है। सभी प्राणियों में वही सांस है, वही मांस और रक्त है। उत्तम और मध्यम का भेद हमारे दृष्टिकोण में है। सामाजिक पद प्रतिष्ठा के आधार पर स्वयं को महिमामय मानते हुए दूसरे को तुच्छ मानने वाले राजा, शेख, सूफी, चिश्ती इत्यादि को भी निर्दिष्ट करते हुए गुरु जंभेश्वर जी ने व्यर्थ अहंकार न करने का उपदेश देते हुए कहा कि मान मर्यादा बहुत अधिक समय तक टिकने वाली नहीं इसीलिए गुरु के ज्ञान को ग्रहण करते हुए सम दृष्टि रखो। नष्ट प्राय: शरीर और अर्जित किए हुए धन संपदा व उपाधियों से अहंकार क्यों ? यह उनकी समदृष्टि का ही प्रताप था कि राजा, मंत्री, हाकिम सामंत से लेकर साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, पतित दरिद, दुर्बल, जातिच्युत– सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सबके प्रति समान भाव रखते थे। गीता में कहा गया है–

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥[42]

अर्थात् 'परमेश्वर को सर्वत्र समतुल्य रूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता, इसलिए वह परमगति को प्राप्त होता है। 'गुरु जंभेश्वर जी ने सार रूप में यह बात इस प्रकार कही–

सपत पयाळे त्यौंह तिरलोके, चवदा भुंवणे गिगन गहीरे
बाहरि भीतरि सरब निरंतरि जहां चीन्हें तहां सोई[43]

सामाजिक सौहार्द व सहयोग सम्बन्धी घटक

भारतीय ज्ञान, दर्शन एवं परंपरा में सौहार्द एक ऐसा मूल्य है जो समाज को परस्पर गूंध कर रखने में सक्षम है। हमारे आदि ज्ञान ग्रंथ यजुर्वेद में वर्णित प्रार्थना है–

मित्रस्याहं सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्याह चक्षुषा समीक्षामहे॥[44]

अर्थात् मैं सभी प्राणियों को मित्रवत् देखूं, आपस मे सभी एक–दूसरे को मित्र के समान देखे।

गुरु जंभेश्वर जी के अनुसार भी सामाजिक सौहार्द के लिए पारस्परिक प्रेम व सद्भाव अत्यावश्यक है। सद्भाव की उत्पत्ति कायिक, वाचिक व मानसिक तप से ही उद्भूत हो सकती है अर्थात् श्रमदान, सहयोग, सेवा, परहित चिंतन और वाणी संयम इसके लिए अत्यावश्यक घटक हैं–

संयमित विनम्र वाणी– जिव्हा का संयम बनाए रखने का उपदेश सबदवाणी में कई स्थानों पर किया गया है। गुरु जी के शिष्य वील्होजी ने इस संदर्भ में कहा भी है–

जीभड़ी मंझषि जंजाळह, दाय न आवै देवजी।[45]

अर्थात् जिभ्या से कूड़–कपट उच्चारण करना देवजी (गुरु जंभेश्वर जी) को पसन्द नहीं है। गुरु जंभेश्वर जी ने शांति, समरसता प्रेमभाव, सामंजस्य और तत्व प्राप्ति के लिए वाद विवाद न करने का उल्लेख किया है–

दुनियां राती वाद विवादूं, वाद विवादे दांणौं खींणा[46]
झंख्या झूला आळूं[47]

जां जां वाद विवादी, अति अहंकारी, लबधि सवादी... किसन चिरत विणि, ना ऊतरिबा पारूं।[48]
गड़बड़ गाजा कांय वेवाजा, कण विणि कूकस कांयौ लेणां?
विवाद काय बोली मुख ताजूं? भरमी वादी अति अहंकारी लबधि सवादी[49]
विरांम फिटा करि प्रांणी छाड़ी मन हठ मन को भांणौं।[50]
भरमी भूला वाद विवाद आचार विचार न जांणत स्वाद[51]

वाणी की कटुता वाद-विवाद में दृष्टव्य होती है अतः सद्भाव के लिए इसका त्याग आवश्यक है- **सुवचन बोलि सदा सोहिलाली**[52] अधिकांश लोग अपना समय दूसरे की निन्दा करने में व्यतीत करते हैं। व्यक्ति की वाणी वश में नहीं होने से जगह-जगह कलह, विध्वंस और झगड़े होते हैं। यदि वाणी का प्रयोग सोच समझकर किया जाय तो अपना भी मन शान्त रहता है, दूसरे का भी मन शान्त रहता है। और पारस्परिक प्रीति बढ़ती है। गुरु जंभेश्वर जी ने निंदा को सामाजिक वैमनस्य व दुर्भावना का कारण बताया है- **के के जीव कुजीव कलोतर बांणी वादीलो अहंकारीलो।**[53] जिसकी निंदा की जाती है उसके प्रति निंदा करने वाले का भाव अशुद्ध होता है। दया रहित हृदय की कठोरता, कठोर वाणी का अभिलक्षण है दया के अभाव में मानव इस अशोभनीय कार्य को करते हैं-

मूंड मुंडावौ मन न मुंडावौ मुंहि अभखळ दिल लोभी।
अंदरि दया नहीं सुर कांने, निंदराहड़ा कसो भी।[54]

मानव शरीर अमूल्य है क्योंकि आत्मा इसके माध्यम से प्रकाशित होती है। मानव देह पाकर भी जो व्यर्थ की बकवाद करता है अर्थात अपवित्र वाणी बोलता है उसके मुंह को सूअर के मुंह के समान बताकर कड़े शब्दों में अनर्थकारी बातों की निंदा की है। मानव जीवन की श्रेष्ठता को हम दूसरों की हंसी उड़ा कर, बदनाम और निंदा करके नष्ट करते हैं। गुरु जंभेश्वर जी कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति को यह विवेक उत्पन्न हो जाता है कि यह निंदनीय कृत्य है। निंदनीय कृत्य के परिणाम भी निंदनीय ही होते हैं। निम्न सबदों में यही भाव प्रदर्शित है-

रगत स विंदू, परहस निंदू अपस सहेतूं,
पणि बूझै नहीं गिंवारूं[55]
रतन कया मुखि सूवर वरगोय अभखळ झंख्या पाइयै[56]
टाटर चुगल चयांणौं।[57]

गुरु जंभेश्वर जी कहते हैं कि विष्णु का जाप सद्गुण उत्पन्न करता है और निंदा कर्म से दूर रखता है- **जंपो विसन न निंद्या करणी**[58] विश्नोई पंथ में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि **'पर निंद्या पापां सिरै'** अर्थात् पराई निन्दा सबसे बड़ा पाप है।[59]

क्षमा-भगवान महावीर का कथन है- **'जो सहइ स पुज्जो।'**[60] जो सहन करता है, वह महान है। किंतु उसके पीछे यह भाव निहित है कि दूसरों के द्वारा प्रदान किए जाने वाले क्लेशों के प्रति तटस्थ भाव रखते हुए क्षमा कर देना। क्षमाशीलता एक प्रकार का संवेगात्मक प्रशिक्षण है जो मनोविकारों को पनपने नहीं देता। इससे हम क्रोध, कुंठा ईर्ष्या, बदला लेने की भावना से ऊपर उठकर अपनी ऊर्जा को नकारात्मक चिंतन से हटाकर अन्य उपयोग में लगाने में सक्षम होते हैं। गुरु जंभेश्वर जी का चिंतन यहां भगवान महावीर के चिंतन जैसा ही प्रतीत होता है। क्षमा को तप की संज्ञा देते हुए वे कहते हैं-

देखि अदेख्या सुण्यां असुण्यां खिमां रूप तप कीजै।[61]
जे कोई हो हो होय करि आवै तो आपण होइये पांणी।
जांहकै बोहती नवंणी बोहती खवंणी, बोहती क्रिया समांणी।[62]

क्रोध में आग बबूला व्यक्ति पर क्रोध ना करते हुए पानी के समान शीतल बन जाना चाहिए। गुरु

जंभेश्वर जी ने विनम्रता, क्षमाशीलता और धैर्य-क्षमावान के गुण बताए हैं।

सामाजिक सौहार्द में बाधक तत्व अहंकार का त्याग करने के लिए गुरुजी ने उपदेश दिए हैं-

जां जां घमंड स मंड्यौ, ताकै ताव न छायौ सूतै सास नसायौ[63]

अर्थात् जिन पर घमंड छाया हुआ है जो अहंकार के वशीभूत हैं उनको भले बुरे का विवेक नहीं रहता। राज पद पर आसीत राजा को भी राज्य का अहंकार न करने का उपदेश गुरुजी ने दिया है,[64] वही अहंकार निरोध के संदर्भ में कुछ कथन दुर्योधन, सहस्रबाहु व अन्य महारथियों के अहंकार प्रदर्शन व उसके दुष्परिणामों के संदर्भ में कहे गए हैं।[65]

परस्पर सम्मान- एक दूसरे को सम्मान देना सामाजिक सौहार्द और समानता मूल्य को पोषित करता है। परस्पर नमन प्रणाम और कुशल क्षेम के द्वारा यह भाव प्रकट होता है। गुरु जंभेश्वर जी की वाणी में इस बात को इस प्रकार प्रकट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म की ज्योति को देखना और उस को नमन करना अभिवादन जैसे शिष्टाचार का मूल कारण है। जिसके द्वारा एक दूसरे को आदर प्रदान करने के साथ यह सत्य निहित है कि सभी में परमात्मा का अंश समान रूप से विद्यमान है और मानवीय एकता की मूल सत्ता सभी के लिए नमन करने योग्य है। गुरु जंभेश्वर जी ने इस ही बात को अपने सबदो में कहा है-

तइया मुसळमांणौं। पीरां पुरसां जिमी मुसलां, करतब लेक सलांमूं तइयां तत र सलांमालेकंम अलेकंम सलामूं[66]

दया-दया एक ऐसा मूल्य है जो समाज को बांधकर या एकजुट रखने में सक्षम है। दया के समानार्थी शब्द है उपकार, उदारता। गुरुजी अपने शब्दों में कहते हैं कि दया धर्म से रहित व्यक्ति के सभी कर्म उल्टे हैं।

जां जां दया न मया तां ता विक्रम कया
जां जां दया न धरमूं तां तां विक्रम करमूं[67]

प्राणी मात्र के प्रति दया भाव होने पर मन केवल जगत के मायाजाल रूपी अज्ञान की छाया में उलझा नहीं रहता, बल्कि धीरे-धीरे उस से मुक्त होने लगता है। अत: दया का भाव आत्मतत्व के प्रकाशन में सहायक होता है-

काया भीतर माया आछै । माया भीतर दया आछै दया भीतर छाया आछै, छाया भीतर बिंब फळूं[68]

गुरु जंभेश्वर जी ने जीवों पर दया करने का संदेश देते हुए यह कहां है कि आत्ममुग्ध होकर स्वार्थपरता के कारण हम जीवों की हत्या करते हैं जो निर्दोष हैं जिसके पीछे हमारा कुछ न कुछ स्वार्थ निहित होता है। हे मनुष्य! अज्ञान के अंधकार से निकलो और जीव दया का पालन करो-

रहो रे मूर्खा मुग्ध गंवारा, करो मजूरी पेट भराई।
हैहै जायो जीव न घाई।[69]

इस संदर्भ में महाभारत का एक श्लोक वर्णनीय है-

न हि तत्परमं किंचिदिह लोके परत्र च।
यत्सर्वेष्विह लोकेषु दया कौरवनन्दन॥[70]

अर्थात् सब जीवों के विषय में दया करने के सदृश श्रेष्ठ धर्म इस लोक और परलोक में दूसरा कुछ भी नहीं है।

परोपकार व दान-दया की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति परोपकार व दान के लिए उद्धत होता है। प्रकृति का प्रत्येक घटक मानव को परोपकार की प्रेरणा देता है। गुरु जंभेश्वर जी ने कहा है-

संसार मां उपगार एसा, ज्यौं घण बरसंता नीरूं।
संसार मां उपगार जैसा, ज्यौं रूही मध्ये खीरूं।[71]

दान देने के संबंध में चेतावनी देते हुए गुरु जी कहते हैं कि किसी चीज पर जबरन अधिकार करके

उसको किसी को सुनाया देना दान की श्रेणी के अंतर्गत नहीं आता। यदि नौ लाख हाथियों को घेर कर उनको बंद करके दान दे दिया जाए। तो यह है दान की श्रेणी में नहीं आता। सांसारिक लोग लौकिक वैभव, शक्ति संपन्नता और सांसारिक सफलता के लिए दान कर्म का निष्पादन यथा तथा कर देते हैं और फूले नहीं समाते किंतु इसके मूल में निहित भाव के अभाव होने से वह दान हो ही नहीं सकता। गुरु जंभेश्वर जी के निम्न सबद यही भाव प्रकट करते हैं–

नव लख दंताळा वार करीलोवार करे करि बंद करीलो।
बंद करे करि दान करीलो दांन करे करि मन फूलीलो।[72]

मिथ्या दान जो कि समाज में अक्सर प्रचलित होता है उसकी गुरु जंभेश्वर जी ने कड़ी आलोचना की है। परोपकार मूल्य को पोषित करने वाले कुछ सबद है–

थोड़े मांहि थोड़ेरो दीजै होते नांहि न कीजै।
जोय जोय नांय विसन के दीजै, अनंत गुंणा लिख लीजै।[73]
गुरु गणां जो लेवे नांही, दश बंध घर बोसायसै।
आप थापी महा पापी, दग्धी परलै जायसै[74]

अर्थात् गुरु की आज्ञा अनुसार अपनी कमाई का दसवां हिस्सा दान पुण्य में खर्च यदि नहीं किया तो ऐसा जीवन संतोष प्राप्त नहीं करेगा और तृष्णा की आग में जलता रहेगा ऐसे दग्ध हुए मनुष्य बार–बार जन्मते और मरते हैं।

वस्तु पियारी खरचों क्यूं नांही, किहिं गुण राखो टाली।
खरचे लाहो राखे टोटो, बिबरस जोय निहाली।[75]

वास्तविक दान की चर्चा करते हुए गुरु जी कहते हैं कि अपनी प्रिय वस्तुओं को खर्चते क्यों नहीं हो अर्थात् उनको संभाल कर क्यों रखा हुआ है खर्च करने से लाभ है और संग्रहित करने से नुकसान है। सामाजिक चेतना को जागृत करने वाले इस प्रकार केसबद सबदवाणी में यत्र तत्र देखने को मिलते हैं–

पार गिराय त नेही करणी (जंपो विसन न दोय दिल करणी)।[76]

सामाजिक उपयोगिता संबंधी मूल्य

आत्मज्ञान, नीति विचार, चरित्र संबंधी ज्ञान, उपयोगी विद्या और कलाओं का ज्ञान मनुष्य को मानव नाम से अभिहित करता है। इनके अर्जन से ही समाज का परिमार्जन संभव है। समाज को बिना दिए मानव की कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। अत: जीवन का प्रत्येक कृत्य व उपलब्धि सामाजिक अवदान के रूप में होनी चाहिए। गुरु जी का कथन है–

भल मूळ सींचो रे प्रांणी ज्यू का भल बुधि पावौ
भल मूळ सींचो रे प्रांणी ज्यू तरवर मेल्हंत डाळू
फिरि फिरि जो' या डाळू[77]

यहां मूल सींचने का अभिप्राय है– जीवन उपयोगी लक्ष्य उन्मुख कर्म करना। जिस प्रकार पेड़ की जड़ को सींचने से फल फूल पत्र आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार जीवन में इच्छित फल प्राप्ति हेतु सार्थक और उद्देश्यपूर्ण कर्म करना आवश्यक है। व्यर्थ के अनुपयोगी कार्यों को करते हुए बिताया गया जीवन न स्वयं के लिए उपयोगी है न समाज के लिए। ठीक उसी तरीके से जिस तरीके से पत्रों, फूलों–फलों का सिंचन करने से न तो वृक्ष का अस्तित्व रहेगा और ना ही इच्छित फल की प्राप्ति होगी। मानव जीवन को सार्थक बनाने संबंधी अन्य सबद भी उल्लेखनीय है– **जिणि तुलि भूला पांहण तोलो तिणि तोलो न ही।**[78] अर्थात् यह अनमोल जीवन व्यर्थ के कार्यों के लिए नहीं मिला है। अत: दूसरों की देखा देखी एवं मनमानी करते हुए इस जीवन को व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए–

देखत भूली को मन मानैं, सेवै विलोवै बाज सिनांनै।
देखत भूली को मन चेवै, भीतर कोरो बाहरि भेवै।
देखत भूली को मन मानै, हरि परहरि मिळिया सैतांनै।

देखत भूली को मन चेवै, आक वखांणै थंदे मेवै।[79]

गुरु जी कहते हैं कि उद्देश्य हीन क्रियाएं निष्फल होती हैं–

भूलालो भळ भूला लोई, भूला भूलि न भूलूं।
जैंह ठूंठड़ियै पान न होई, ते क्यौं चाहंत फूलूं।[80]
हरेचे दारी सरफ कुं (न) दर राह कुं (न)।
लुळत नां लुळ वेरह तात तुलफ कुं (न)।[81]

सामाजिक उपयोगिता अवदान के कारण ही संभव है यहां गुरु जी ने संदेश दिया है कि हमारे पास जो भी कुछ है उसको हमें खर्च करना चाहिए और सादगीपूर्ण जीवन के द्वारा ही संसार में जीवन यापन करना चाहिए, अत्यंत सुख और अत्यंत दुख की स्थिति हमें समाज के लिए अनुपयोगी बना डालती है। अत: समभाव से रहते हुए समाज का एक उपयोगी हिस्सा बनना चाहिए।

पुरुषार्थ संबंधी मूल्य

विषय सुख से ऊपर उठकर कल्याणकारी व दूसरों के हितार्थ कर्मो को ही पुरुषार्थ की संज्ञा दी गई है। कौटिल्य का मत है कि मनुष्य जीवन की सार्थकता पुरुषार्थ प्राप्ति में ही है, तभी वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है अन्यथा निरर्थक जीवन बिताते हुए आवागमन के चक्कर में बना रहता है।[82] गुरु जंभेश्वर जी ने पुरुषार्थ संबंधी विचारों को अपनी वाणी में इस प्रकार प्रकट किया–

वै कंवराई, पार गिराईं अनंत बधाई
वै कंवराई सुरग लडाई, अ कंवराई खेह रळाई
दुनियां रोळ कंवर किसी ?, कंण विणि कूकस, रस विणि वाकस
विणि किरिया परवार जिसी। अरथं गरथूं साहंण थाटूं घुंवरि का लहलोर जिसौ। सो सारंगधर जपि रे प्राणीं, जिंह जपियै हुवै धरम इसौ। चलंण चलंतै वासि वहंतै जीव जीवंतै सासि फुरंत काया नवंती कीवी न कमाई[83]
जुग जागो जुग जाग पिरांणी कांय जागंता सोवौ ?
वसत पियारी खरचौ क्यूं नांहीं, किंह गुण राखो टाळी ?
खरच्यै लाहो राख्यै टोटो वीव रसि जोय निहाली।
सुकरत जीव सखायत होयसी, हेत फळे संसारी
...कूड़ी आधोचारी।[84]
'आसण बैसण कूड़ कपट को को घीन्हत अवजू वाट[85]
दोजक छाड़ि मुकति जे चाहाँ कहिया करौ हमारा।[86]
हिरदै नांव विसन को जंपौ हाथे करो टबाई।[87]
पहलै किरिया आप कमाइये, तो औरां न फरमाइये।
जो कुछ कीजै मरणै पहले, मत भल कहि मर जाइये।[88]

भाव यह है कि जीवन में कर्म ऐसे हो जो इस संसार सागर से पार उतारने में मददगार हो। खुद के सुख एवं लाभ के लिए क्षति पहुंचाने वाले कर्म निरर्थक और बुरे हैं। ऐसे कर्मों को करने वाला कंवर नहीं बल्कि उन्मादी और स्वार्थी हो सकता है। ऐसे कर्मों का फल उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार से गन्ने के छिलके से रस या अनाज की भूसी में से दाने निकालने की अपेक्षा रहती है। बिना श्रम और कर्म के परिवार निरर्थक है। मात्र सुख संसाधन जोड़ने के लिए किया गया कर्म पुरुषार्थ नहीं है। जब तक शरीर स्वस्थ और शक्ति संपन्न है तब तक सत्कार्य करने चाहिए और ऐसे कर्मों का अर्जन करना चाहिए जो मनुष्य की वास्तविक कमाई है जिसके लिए उसने मानव शरीर धारण किया है। जंभेश्वर जी स्वामी विवेकानंद के सामान लोगों को चेताते हुए कहते हैं कि जागो! अर्थात् अज्ञान निद्रा में क्यों हो! यह शरीर कभी भी आत्मा से विलग हो जाएगा इसलिए कर्मशील बनो। इस मानव देह को सत्कर्मों में खर्चना चाहिए। अर्थात् इस दुर्लभ मानव देह द्वारा उपयोगी और उत्पादक कर्मों को करते हुए जीवन को व्यतीत करना चाहिए। प्रतिष्ठित पद की गरिमा को बनाए रखते हुए पदानुकूल कर्म करना चाहिए। जिस भी कर्म योनि में हम हैं उस कर्म को अपना नैतिक कर्तव्य समझते हुए ईश्वर का ध्यान

चिंतन मनन करते हुए निष्काम कर्म का संदेश गुरु जी ने दिया है।

सामाजिक न्याय

न्याय मूल्य वास्तव में सत्य व ईमानदारी जैसे उच्च मूल्यों से पोषित हैं। न्याय एक कसौटी है जिससे वस्तु तत्व को जाना जाता है और खरे-खोटे के मिश्रण को परखा जाता है। वस्तुतत्त्व के यथार्थ निर्णय में सहायक न्यायविनिश्चय गुरु जंभेश्वर जी के निम्न सबदों से प्रकट है-

हक हलालूं हक साच किसनूं, सुकरत अहळो न जाई।
जो आराध्यो राव दहूठळ सो आराधो रे भाई।[89]

हक और न्याय की कमाई को जायज बताते हुए गुरु जंभेश्वर जी ने सत्य व न्यायप्रिय राजा युधिष्ठिर का उदाहरण देते हुए उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने का उपदेश दिया। 'राव दहूठळ' धर्मराज युधिष्ठिर के लिए प्रयुक्त हुआ है।

हक हलाल पिछांण्यों नाहीं, निहचौ विन गाफिल दो रे दीयो[90]

इस सबद में गुरु ने यह संदेश दिया कि न्याय और सत्य को पहचानना अत्यावश्यक है क्योंकि कर्म-विकर्म का ज्ञान न होने से मनुष्य अन्याय और झूठ का सहारा लेकर धर्म परायणता से ही भटक जाता हैं और दूसरे का हक मारने लगता है। गुरु जंभेश्वर जी ने अपने स्वयं की मेहनत से अर्जित जीविका पर ही अधिकार रखने का स्पष्ट संदेश 'सदा सोहिलाली'[91] कहकर दिया है। हक निवाज गुजारो कहकर ईश्वर प्राप्ति भी तभी संभव बताई है। सत्य न्याय और ईमानदारी के बल पर ही स्वर्ग प्राप्ति संभव है- जैं हक साच सिदक ईमान सलांमति, जिणि आ भिसत ज पाई।[92] आगे के सबद में गुरु जंभेश्वर जी ने अयोग्य के द्वारा योग्य पर शासन को भी सामाजिक अन्याय की श्रेणी में रखा है और कहा है कि- **गुर चेलै के पाए लागै, देखौ लोग अन्याई।**[93]

गुरु जंभेश्वर जी ने अन्याय को कई रूपों में वर्णित करते हुए हिंसा, झूठ, स्वार्थवश किसी के अधिकार का हनन एवं अपने से अधिक योग्य को शासित करना, कमजोर को दबाना या दुख देना सभी को अन्याय की श्रेणी में रखा हैं। न्याय के अभाव में वर्तमान प्रचलित लोकतांत्रिक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष समाज की रचना संभव नहीं हो सकती।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु जंभेश्वर जी ने सामाजिक मूल्यों पर अत्यधिक बल दिया और समानता, सहयोग, सेवा, सद्भाव, सादगी, ईमानदारी आत्म-नियंत्रण एवं सहनशीलता, अशोषण, सहानुभूति और दूसरों के अस्तित्व का आदर जैसे मूल्यों के साथ उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें सामाजिक कुशलता, आर्थिक कुशलता (Economic efficiency), नैतिकता (Morality) और विधायक कुशलता (Positive morality) के साथ समाज के सदस्य समाज के उन्नयन में अपना योगदान दे सकें। विश्व के समस्त मानव समाज यदि गुरु जंभेश्वर जी द्वारा बताइए रीति-नीति का पालन करते हुए इन मूल्यों का बर्ताव करेंगे तो सर्वत्र सुख शांति का साम्राज्य होगा। डॉ. राधाकृष्णन एवं अरविंद घोष जी की 'सर्व मुक्ति' और 'दिव्य जीवन' की कल्पना साकार हो उठेगी। इस भाव से ओतप्रोत मानव जब सर्वकल्याण के उद्देश्य से समाज में कार्य करेगा तो निश्चित रूप से हम भौतिक शांति, सामाजिक शांति, प्राकृतिक शांति, शारीरिक शांति और विश्व शांति की ओर अग्रसर होंगे।

संदर्भः

1. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-66/33, पृ. 654
2. वही, सबद 4

3. वही, सबद-8/9-4
4. वही, सबद-42/1, पृ.-60
5. वही, सबद-45, पृ. 607-608
6. वही, सबद-50/1-4, पृ. 615
7. वही, सबद-71, पृ. 665
8. वही, सबद-85/5, पृ. 694
9. वही, सबद-85, पृ. 694 एवं सबद-90, पृ. -706
10. वही, सबद-72/6,7, 8, 1, 2, पृ.-668
11. वही, सबद-18/7-10
12. वही, सबद- 6/10-14
13. वही, सबद- 9/17-26, पृ. 545
14. वही, सबद-61/9-10, पृ. 640
15. वही, सबद-64/1-5, पृ. 650
16. वही, सबद-86/1,2,15, पृ. 695
17. वही, सबद-113, 59-60
18. वही, सबद- 59-60
19. वही, सबद-61/9-10, पृ. 640
20. वही, सबद-25 पृ. 574
21. महाभारत, अध्याय 116, श्लोक-6-7, पृ.751
22. डॉ. कृष्णलाल, बिश्नोई धर्म संस्कार
23. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-7/1-6, पृ. 542
24. वही, सबद-8/1-8,15-24, पृ. 543
25. वही, सबद-36/1-6, पृ. 599
26. वही, सबद-86/7-8, पृ. 695
27. वही, सबद-113/7
28. महाभारत, अनुशासनपर्व अध्याय 116 श्लोक -14, पृ. 755
29. बिश्नोई एवं ध्यानी, (2022) नीतिपरक शिक्षाओं के संदर्भ में जाम्भोजी एवं कौटिल्य के विचार, गुरुकुल पत्रिका, अंक 74/2, अक्टूबर- दिसंबर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, पृ. 102-111
30. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-14/1-10
31. वही, सबद- 37/1-4, पृ.-600
32. स्वामी विवेकानंद साहित्य संचयन (2006) प्रकाशक स्वामी ब्रह्मस्थानंद, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 15वां संस्करण, पृ.105
33. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-5/1-2
34. वही, सबद-17/1-2
35. वही, सबद-18/13-14
36. वही, 67/1-4,13-14, पेज 659
37. महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय 114/ श्लोक-7, पृ. 753
38. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद- 15/3-8
39. वही, सबद 18/13-14
40. वही, सबद 39/1-2, पृ. 600
41. वही, सबद-44/1-6, पृ. 607
42. संदर्भ गीता।। 13 ।28 ।।
43. वही, सबद-36/18
44. वही,सबद-43/1-4
45. बिश्नोई कृष्णलाल (2016) वील्होजी की वाणी जांभाणी साहित्य अकादमी, बीकानेर, पृ.- 98
46. वही, सबद 19/14-15
47. वही, सबद-29/7, पृ. 591
48. वही, सबद- 30/8-9, पृ. 593
49. वही, सबद 86/3-5, पृ. 695
50. वही, सबद 9/1-2, पृ. 722

51. वही, सबद-28/66-67, पृ. 586
52. वही, सबद 76/3,पृ. 674
53. वही, सबद-51/21-22,पृ. 616
54. वही, सबद 82/1-4, पृ. 681
55. वही, सबद-57/10-11,पृ. 634
56. वही, सबद-28/41-42, पृ. 586
57. वही, सबद-66/22, पृ. 654
58. वही, सबद- 21/9
59. संत वील्होजी का साहित्यिक एवं सामाजिक अवदान, (2017) (संपा) देवेंद्र कुमार सिंह गौतम, पुष्पा विश्नोई, मूलाराम एवं रामस्वरूप, प्रकाशक- जांभाणी साहित्य अकादमी, बीकानेर, पृ. 16
60. शास्त्री, मुनि, गणेश, प्रेरणा के बिंदु, प्रकाशक- अमर जैन साहित्य संस्थान, उदयपुर, प्रथम संस्करण 1972, पृ. 37
61. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-92/1-2, पृ. 711
62. वही, सबद-105/7-8, पृ. 729
63. वही, सबद-18/15-17, पृ. 562
64. वही, सबद-23/1, पृ. 571
65. वही, सबद-56, पृ. 630
66. वही, सबद-67/7,9,12, पृ.-659
67. वही, सबद-18/1, 2, 7, 8
68. वही, सबद- 40/5-8, पृ. 603
69. आचार्य कृष्णानंद जंभसागर, सबद-85/27-28, पृ. 180
70. अनुशासन पर्व, अध्याय 117/20, पृ. 767
71. वही, सबद-64/10-11, पेज 651
72. वही, सबद-114/5-8, पृ. 743
73. वही, सबद-92, पृ. 711
74. आचार्य कृष्णानंद (संपा.) जंभसागर, सबद-90/5-6, पृ. 190
75. वही, सबद-86/12-13, पृ. 183
76. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-21/7-8
77. वही, सबद-29/1,2,4,5,12, पृ.-591
78. वही, सबद-46/5, पृ. 609
79. वही, सबद-110/1-4, पृ.-738
80. वही, सबद-75/5-6, पृ.-673
81. वही, सबद-102/1-2, पृ.-727
82. बिश्नोई एवं ध्यानी, (2022) नीतिपरक शिक्षाओं के संदर्भ में जाम्भोजी एवं कौटिल्य के विचार, गुरुकुल पत्रिका, अंक 74/2, अक्टूबर- दिसंबर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
83. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-65/1-12, पृ.- 652
84. वही, सबद-84/1,13,14,9,15, पृ.- 689
85. वही, सबद-22/1-2, पृ.- 570
86. वही, सबद-93/21, पृ. 712
87. वही, सबद-99/5, पृ.- 724
88. आचार्य कृष्णानंद, सबद-30/17-18, पृ. 79
89. माहेश्वरी हीरालाल (2011) श्री जांभोजी और जंभवाणी मीमांसा, प्रकाशक श्री गुरु जंभेश्वर साहित्य सभा, अबोहर, पंजाब, सबद-70/1,10, पृ. 662-663
90. वही, सबद-9/27-28
91. वही, सबद-76/3,पृ. 674
92. वही, सबद-101/4, पृ.-726
93. वही, सबद-71/2, पृ.-665

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

6

मध्यकालीन भक्ति साहित्यः समन्वयवादी दृष्टिकोण

प्रो. किशनाराम बिश्नोई, विभागाध्यक्ष एवं **डॉ. रामस्वरूप**
गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान
गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार

मध्यकालीन साहित्य को साहित्य इतिहासकारों द्वारा दो खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) तथा द्वितीय खंड को उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) के नाम से अभिहित किया गया है। हिंदी साहित्य इतिहास में पूर्व मध्यकाल जो लोक, समाज एवं साहित्य में भक्तिकाल के नाम से प्रसिद्ध व प्रचलित है। साहित्य इतिहासवेत्ताओं ने इसे स्वर्णयुग की संज्ञा प्रदान की है। हिंदी साहित्य इतिहास में स्वर्ण युग कहे जाने वाले इस कालखंड में अनेक महान विभूतियां हुई, वे भारतीय साहित्य संसार के गौरव है।

गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस और सूरदास का वात्सल्य वर्णन विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। कबीर की सशक्त वाणी, मीरां की भक्ति और ईश्वर प्रेम, गुरु जांभोजी की पीयूषवर्षिणी वाणी, दादू दयाल और नानक की वाणी तथा उपदेश इसी स्वर्ण युग की देन है। इस युग के प्रसिद्ध कवि जायसी आज भी करोड़ों हिंदुओं के हृदय में समाए हुए हैं। नंददास, रसखान, पदम भक्त, सुरजनदास, सुंदरदास, केशवदास, मेहा गोदारा आदि अनेक अपने-अपने क्षेत्रों में अद्वितीय प्रतिभा संपन्न साधक जगत प्रसिद्ध है। संत-भक्त कवियों का काव्य हिंदी साहित्य की बेजोड़ संपदा है। इस काल की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'समस्त भारतीय साहित्य में अपने ढंग का अकेला साहित्य है, इसी का नाम भक्ति साहित्य है।'

वैदिक काल से चली आ रही भक्ति की धारा मध्यकाल में कुछ परिवर्तन के साथ उपस्थित हुई। इस युग में भक्ति की धारा उपनिषदों, पुराणों, ब्राह्मण ग्रंथों और स्मृतियों के मार्ग चलती हुई अपना प्राचीन रूप कुछ बदल चुकी थी। वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्ध एवं जैन धर्म उदित हुए, लेकिन उसके मूल सिद्धांत सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि का मूल स्रोत वैदिक धर्म ही रहा। इसके पश्चात एक तरफ वज्रयानी, वामाचारी, सिद्ध, नाथ आदि तथा दूसरी तरफ वैष्णव, शैव आदि धर्म-संप्रदाय प्रचलित हुए।

दक्षिण में अलवार और नयनार संप्रदाय का उद्भव और अद्वैतवादी शंकराचार्य का भक्ति आंदोलन मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के क्षेत्र में सशक्त कदम है। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे और कालांतर में उनके अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप अखिल भारत में विशिष्टा द्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और पुष्टिमार्ग आदि भक्ति प्रधान दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचलन हुआ।[1] इन विभिन्न सिद्धांतों के प्रचलन एवं प्रभाव के फलस्वरूप भक्ति के क्षेत्र में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की परिकल्पना विकसित हुई, जिसके अंतर्गत संतों, सूफियों व राम-कृष्ण भक्ति आदि काव्य धाराओं का प्रादुर्भाव हुआ। निर्गुण भक्ति को ज्ञानमार्गी व प्रेममार्गी तथा सगुण भक्ति धारा को राम और कृष्ण काव्यधारा में विभाजित किया गया। उत्तर मध्यकाल-रीतिकाल को भी साहित्य इतिहासकारों ने रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध व रीतिमुक्त काव्यधारा में विभाजित किया। इस प्रकार

मध्यकालीन हिंदी साहित्य का फलक काफी विस्तृत है। इसके फलस्वरूप ही संपूर्ण राष्ट्र में भक्ति की धारा का प्रवाह और परस्पर प्रतिस्पर्धा के वातावरण का निर्माण हुआ, जो विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण एवं प्रभावी है।

'अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर ने ज्ञान के साथ-साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया। ईश्वर को शिव का रूप देकर जनसाधारण के लिए शैव उपासना और पंडितों के लिए ज्ञानमार्ग के द्वारा एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त किया।'[2] एक प्रकार से देखा जाए तो शंकराचार्य ने ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानते हुए जनसाधारण को संसार से विमुख करने का प्रयास किया था, 'किंतु रामानुजाचार्य ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी। गुजरात में स्वामी माध्वाचार्य ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी और बहुत से लोग झुके।'[3] रामानुजाचार्य की सगुण भक्ति की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण जनता ने चित्त से किया तथा माध्वाचार्य के द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय की ओर भी जनता का विशेष आकर्षण रहा। निंबार्क के द्वैताद्वैतवाद में ब्रह्म को संसार से भिन्न और अभिन्न भी बताते हुए कृष्ण और किशोरी राधा की उपासना की ओर भी जनता आकर्षित हुई। विशिष्टा द्वैतवाद दर्शन के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने अपने दर्शन में ब्रह्म को सगुन माना है और वे निर्गुण को कल्पनातीत मानते हैं। रामानंद ने रामावत संप्रदाय की स्थापना करके लक्ष्मीनारायण की उपासना के स्थान पर सीता-राम की उपासना पर बल दिया। वहीं वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को माया के संबंध से रहित मानते हुए शुद्धाद्वैतवाद का प्रवर्तन किया।

'भक्ति आंदोलन के विस्तार में वैष्णव भक्ति की तुलना में शैव भक्ति शाखा को उतना विस्तार और महत्व नहीं मिला। वैष्णव भक्ति की धारा कर्नाटक और महाराष्ट्र से होते हुए उत्तर भारत में प्रवाहित हुई, विष्णु के राम और कृष्ण दो स्वरूप वैष्णव भक्तों के आराध्य बने। कृष्ण भक्ति धारा के सूत्राधार वल्लभाचार्य हुए तथा राम भक्ति को रामानंद ने प्रचारित किया।'[4] इसके साथ ही सूफियों की विचारधारा का भी भारत में प्रादुर्भाव हुआ। कृष्ण भक्ति धारा के अंतर्गत अष्टछाप के कवि राम भक्ति शाखा के अंतर्गत तुलसीदास और सूफी कवि के रूप में जायसी को सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली। जायसी का ईश्वर निर्गुण जगत में व्याप्त होते हुए भी प्रत्येक के हृदय में निवास करता है, वहीं तुलसीदास, सूरदास सगुण भक्ति धारा के वैष्णव कवि है। उनका काव्य धर्म एवं भक्ति से ओतप्रोत हैं। जब-जब भक्तों पर संकट आते हैं तब ब्रह्म उसे वेद और उपनिषद नेति-नेति कहकर पुकारते हैं, वहीं सगुण रूप धारण करके उनको संकटों से उबारते हैं। सूरदास के शब्दों में सगुण एवं निर्गुण इस प्रकार है-

'वेद उपनिषद् जासु को निरगुनहिं बतावे।
भक्त बछल भगवान धरै तने भक्तनि के बस॥'[5]

सूरदास वैष्णव संप्रदाय के प्रसिद्ध भक्तकवि है और उनके आराध्य श्री कृष्ण है। वे शुद्ध अद्वैत तत्व होने के कारण निर्गुण भी हैं तथा अनंत ऐश्वर-युक्त होने के कारण सगुण भी है। सूरसागर एवं सूरसारावली में सूरदास लिखते हैं-

जांकी माया लखै न कोई, निर्गुण-सगुण धरै वपु सोई।[6]
आदि सनातन एक अनुपम, अविगत अल्प अहार।
ओंकार आदि वेद असुरहन, निरगुन सगुन अपार॥[7]

निर्गुण और सगुण के द्वंद्व को कम करने के लिए तुलसीदास रामचरितमानस के बालकांड में इस प्रकार लिखते हैं-

सगुनहिं अगुनहिं नहीं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुराण बुध बेदा॥

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

निर्गुण भक्ति धारा के कवि कबीर भी निर्गुण और सगुण के विवाद का शमन करते हुए उससे आगे सोचने की बात करते हैं-

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करूं ज्ञान।
निर्गुण सगुण से परे, तहैं हमारा ध्यान॥[8]

वर्तमान में मंदिर-मस्जिद आदि को लेकर विवाद बढ़ते जा रहे हैं ऐसे में तुलसी, सूर, कबीर और वील्होजी की रचनाएं सांप्रदायिक तनाव को कम करने में विशेष रूप से सहायक है। उनकी रचनाओं में सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। इनके अनुसार सांप्रदायिक भाव से ऊपर उठकर मध्यम मार्ग अपनाने की आवश्यकता है। कबीर एवं वील्होजी का सांप्रदायिक एकता संबंधी महत्वपूर्ण पद इस प्रकार हैं-

कावा फिर कासी भया, रामहिं भया रहीम।
मोट चून मेदा भया, बैठी कबीरा जीम॥[9]
जपै जाप नीवाज रोजा, जुगति मिलिया सत पंथे।
आस पीयासा मिलौ मोमीण, मेल हुई निज तीरथे॥
राम रहीम विसन बिसमिलाह, किसन करीम हमारे॥[10]

आध्यात्मिक साधना का प्रेममार्ग, भारतीय माधुर्य भक्तिभाव और सूफी साधना की प्रेम की पीर आदि का समन्वित रूप है। इसमें व्यापकता एवं तीव्रता दोनों का उचित समावेश देखने को मिलता है। कबीर के अनुसार संसार के प्रति निर्वेद का भाव जाग्रत होने पर ही परमात्मा के प्रति सच्चा प्रेम जागृत होगा। उनकी वाणी से प्रभावित होकर अनेक संतों की वाणी मुखरित हो उठी। कृष्ण उपासक कवि रैदास के काव्य में नम्रता, सहजशीलता एवं सरस प्रवाह संबंधी पद अति महत्वपूर्ण है-

प्रभुजी तुम चंदन हम पानी, जाकी अंग-अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवन चंद चकोरा।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती, जाकी ज्योति बरै दिन राती।
प्रभुजी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलै सुहागा।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करे रैदास॥[11]

धार्मिक समन्वय पर बल देते हुए मध्ययुगीन संतों के अनुसार परमात्मा एक ही है, जिनका वास प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में है, जो प्राकृतिक शक्ति हैं तथा जिससे संपूर्ण दुनिया संचालित है। हृदय के भीतर वास करने वाले ब्रह्म है जो घट-घट में बसे हुए हैं-

दादू जा कारनि जग ढूंढिया, सो तौ घट ही मांहि।
मैं तो परदा भरम का, ताथै जानत नाहिं॥[12]
सबै सयाने एक मति, उनकी एकै जाति।
जहां जहां बच्छ फिरै, तहां तहां फिरै गाय।
कहे मलूक जहं संतजन, तहां रमैया जाय॥[13]

मध्यकाल में यहां तक कि शैव एवं वैष्णवों के मध्य भी सौहार्द्र प्रायः नहीं था, किंतु सूरदास के वैष्णव होते हुए भी उनके काव्य में शैव संप्रदाय के प्रति भी किसी भी प्रकार का कोई द्वेष भाव परिलक्षित नहीं होता है।

द्रष्टव्य पद-

सिव शंकर हमको फल दीन्हौ।
पुहुप पान, नाना फल, मेवा षट-रस अर्पन कीन्हौ।
पा परीं जुवतीं सब यह कहि, धन्य-धन्य त्रिपुरारी।
तुरतहिं फल पूरन हम पायौ, नंदसुवन गिरि॥[14]

भक्तिकाल को ख्याति प्रदान करने में जिन प्रमुख भक्त-संतकवि एवं महात्माओं का योगदान रहा है, उनमें निर्गुण धारा में कबीर और जायसी की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है तथा सगुण धारा में सूरदास और तुलसीदास का योगदान अद्वितीय माना जाता है। वहीं सगुणोन्मुखी निर्गुण भक्ति काव्यधारा के आदि महापुरुष एवं प्रवर्तक गुरु जांभोजी की शिक्षाएं भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सगुणोन्मुखी निर्गुण भक्ति काव्यधारा के आदि महापुरुष गुरु जांभोजी का आविर्भाव उत्तर

भारत के राजस्थान प्रांत के नागौर जिले के पीपासर गांव में लोहटजी पंवार के घर भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, संवत् 1508, सोमवार की रात्रि में हुआ था। उन्होंने अपने लौकिक जीवन के 34 वर्ष की अवस्था में संवत् 1542 को कार्तिक वदी अष्टमी के दिन 'संभराथल' नामक स्थान पर कलश स्थापित कर 'विश्नोई पंथ' का प्रवर्तन किया। गुरु जांभोजी की वाणी-सबदवाणी (जंभवाणी) के नाम से लोक एवं समाज में प्रचलित है।

गुरु जांभोजी की विचारधारा के अनुरूप साहित्य सृजन करने वाले साहित्यकार-संतकवि, भक्त आदि द्वारा लिखा गया साहित्य समग्र रूप से जांभाणी साहित्य कहलाता है। जांभाणी साहित्य का उपजीव्य ग्रंथ गुरु जांभोजी की सबदवाणी माना जाता है। इस श्रेणी का साहित्य गुरु जांभोजी की विचारधारा एवं उनके आदर्शों से पूर्णत: प्रभावित हुआ है। गुरु जांभोजी के अनुसार हमारे हृदय में परमात्मा के प्रति सच्ची साधना होनी चाहिए। संसार के समस्त जीवों में ईश्वर का वास होता है। हमें सभी के प्रति दया, सहानुभूति एवं प्रेम रखना चाहिए। अगर हमारे दिल में इस प्रकार की भावना जाग्रत हो जाती है तो हमें किसी भी प्रकार के मंदिर-मस्जिद आदि जाने की आवश्यकता नहीं है-

दिल साबत हज काबो नैड़े क्या उलबंग पुकारो।
सीने सरवर करो बंदगी, हक्क नुमाज गुजारो॥[15]

धर्म लोगों के लिए कल्याण का मार्ग है, लेकिन कुछ स्वार्थी और पाखंडी लोग उसे अर्थ का साधन मान लेते हैं। आधुनिक युग में धन संचय का तरीका बदलकर लोग भौतिकवाद में लिप्त है तथा फलाफल का विचार किए बिना सामाजिक कुरीतियों से जुड़े हुए हैं। कबीर के साहित्य में सामाजिक कुरीतियां, छुआछूत के खंडन के दर्शन किए जा सकते हैं। 'वस्तुत ऊंच-नीच का भेद मिथ्या है, क्योंकि सारे जगत की उत्पत्ति पवन, जल, मिट्टी आदि पंचभूतों से हुई है। इनका स्रष्टा एक ही ब्रह्म है। सभी में एक ही ज्योति समान रूप से व्याप्त है, केवल भौतिक शरीर के द्वारा नाम रूप का भेद अवश्य है-

ऊंच-नीच है मधिम बानी, एकै पवन एक है पानी।
एकै मटिया एक कुम्हारा, एक समन्हि का सृजनहारा॥[16]

मध्ययुगीन संतकवियों ने भक्ति को समाज के यथार्थ की भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। विशेष रूप से तुलसीदासजी ने लोक जीवन को नवीन स्फुरण, प्रेरणा एवं सजीवता प्रदान करने के उद्देश्य से आराध्य ईश्वर और निर्विकार परब्रह्म में कोई भेद स्वीकार नहीं किया-

हिय निरगुन नयनन्ही सगुण रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

(तुलसी ग्रंथावली)

धार्मिक क्षेत्र में फैले हुए पाखंडों का विरोध करते हुए बिहारी लिखते हैं कि-

जपमाला छापा तिलक, सरई न एकौ कामु।
मन कंचई नचाई बृथा, संचई रांचाइ रामू॥

(बिहारी रत्नाकर)

माया आदि के विरोध में रहीमदास ने अपनी बाणी में सांसारिक आचार की प्रधानता पर इस प्रकार बल दिया है-

रहिमन वित्त अधर्म को,जरत न लागै बार।
चोरी करि हाई रची, भई तनिक में छार॥

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म-मत को मानना या देव-विशेष की पूजा करना नहीं बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजों के बताए धर्म पर दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जातियां भक्ति को आचरण की नकल नहीं करता बल्कि स्वधर्म में मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चित ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर वंश का हो या पुक्कस श्रेणी का। कुलीनता पूर्व जन्म में कर्म का

फल है, चारित्र्य इस जन्म के कर्म का प्रतीक है।'[17]

मध्यकाल में जातिगत भेदभाव को अनुचित माना गया है, गुरु जांभोजी ने जाति-पांति का भेदभाव रखने वालों का खुलकर विरोध किया और मानव मात्र की समानता पर विशेष बल भी दिया है। जंभवाणी के अनुसार मनुष्य की श्रेष्ठता जाति न होकर कर्म होते हैं। अच्छे कर्मों से व्यक्ति महान बनता है न कि उच्च कुल में जन्म लेने से-

'उत्तम कुलि का उत्तम ने कहिबा, कारण किरया सारूं'[18]

मध्ययुग की सगुण-निर्गुण दोनों शाखाओं में गुरु को विशिष्ट महत्व प्रदान किया गया है। सद्‌गुरु की कृपा से ही मनुष्य इस भवसागर से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। गुरु जांभोजी के अनुसार अगर कोई व्यक्ति गुरु के उपदेशों को ठीक ढंग से मान लेता है तो वह निश्चित ही संसार सागर से पार उतर जाता है-

जै थे गुरु का शब्द मानीलो, लंघिबा भव जल पारूं॥[19]

गुरु धारण किये हुए व्यक्ति के संदर्भ में संत कील्हजी चारण के पद काफी महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित है -

सुगणा तो सदा सुरंग, रंग सुगणा मां दीसै।
सुगणा थाइ कवे किया, सुगण मनि इम्रत वसै।
सुगण माय बाप का भगत, सुगण परमारथ भावै।
सुगण सदा सुपीयार, सुगण मनि बुरौ न आवै।
सुगण न पूजे लख सौ, सुगण मन्य धीरज रहै।
सुगणा सुरगै जायस्यै, यौ नारायण कील्हो कहै॥

(पोथो ग्रंथ ग्यान से उद्धृत)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भक्तिकाल के संतों का लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार करना था, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो सके। वे आध्यात्मिक एकता के साथ-साथ मानव समाज में एकता स्थापित करना चाहते थे, जिससे कि समाज का विकास हो सकें।[20]

वास्तव में देखा जाए तो मध्ययुगीन संत-भक्त कवियों ने संपूर्ण राष्ट्र के जनसामान्य में उच्च विषयों का आभास, आचरण की शुद्धता, आडंबरों का तिरस्कार, आत्म गौरव की भावना उत्पन्न करके जिस ढंग से ऊपर उठाने का प्रयास किया, वह भारतीय भाषाओं के साहित्य की अमूल्य निधि है।

समग्र रूप से कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भक्ति साहित्य अमर है, इसकी सार्थकता और महत्ता प्रत्येक देश, काल और वातावरण में बनी रहेगी। सरल, सहज एवं जनसामान्य की लोक भाषा में इन संत-भक्त कवियों ने अपने गंभीर से गंभीर तत्त्व और आत्मानुभूति को व्यक्त किया था, वह वास्तव में विविध धर्मों एवं पंथ-संप्रदायों के मध्य अद्‌भुत समन्वय था। जो सर्वग्राही एवं सर्वकल्याणकारी हैं। इन्होंने अपनी वाणी के माध्यम से जन-जन में जीवन चेतना और आध्यात्मिक एकता जगाने के जो प्रयास किए वे निःसंदेह लोकोन्मुखी एवं सर्वसुखकारी है। मध्ययुगीन साहित्य में निर्गुण एवं सगुन उपासक दोनों भक्तों ने ईश्वर पर विश्वास पैदा किया। उन्होंने अपनी साधना और उपदेशों द्वारा उन सभी मिथ्या मान्यताओं एवं कुसंस्कारों का खंडन किया, जो उस समय के समाज में धर्म साधना के रूप में थी। उन्होंने मध्ययुगीन परिवेश को एक नई दृष्टि प्रदान की, जिसका प्रभाव युगों-युगों तक रहेगा। वर्तमान दृष्टि से इस संपूर्ण भक्ति काव्य का महत्त्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोकजीवनमत, मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। धर्म के प्रति आस्था, आत्मज्ञान, आत्मकल्याण-विश्व कल्याण की भावना, समन्वयवादी दृष्टिकोण, सदाचार युक्त जीवन पद्धति, आत्मपरिष्कार, सात्विक संस्कार, गुरु के प्रति आदर आदि उच्च आदर्श संत-भक्त कवियों की आचार संहिता में स्वतः समाविष्ट हैं, जो कालजयी है।

संदर्भ ग्रंथः

1. तुलसी काव्य में धर्म और आचरण का स्वरूपः डॉ. चरणसखी शर्मा, प्रवीण प्रकाशन महरौली, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–1984, पृष्ठ–80
2. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावलीः डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली,पहला संस्करण–2009, पृष्ठ–30
3. हिंदी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, आठवां संस्करण–2011, पृष्ठ–40
4. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्यः शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संशोधित संस्करण –2010, पृष्ठ–32
5. सूरदास और भ्रमरगीतः डॉ. किशोरीलाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ –23
6. सूरसागर–प्रथम स्कंधः (संपा.) नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, संवत–2015, पृष्ठ– 256
7. सूरसारावलीः (संपा.) मनमोहन गौतम, रीगल बुक डिपो, दिल्ली–6, संस्करण–1974, पृष्ठ–164
8. कबीरः हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण– 1999, पृष्ठ–241
9. कबीरः वासुदेव सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ–74
10. वील्होजी वाणीः (संपा.) डॉ. कृष्णलाल बिश्नोई, साहित्य अकादमी बीकानेर
11. रैदास की बाणी से उद्धृत पद
12. दादू दयाल ग्रंथावली
13. संत मलूकदास का पद
14. संपूर्ण सूरसागर–खंड–3ः (संपा. एवं टीकाकार) डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पद संख्या–1416, पृ.–570
15. जांभोजी, विष्णोई संप्रदाय और साहित्यः डॉ.हीरालाल माहेश्वरी, सत् साहित्य प्रकाशन, कोलकाता–1959, भाग– ।।, सबद–5
16. कबीरः वासुदेव सिंह, पृष्ठ– 64
17. कबीरः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण–1999, पृष्ठ–136–137
18. सबदवाणीः (संपा.) स्वामी कृष्णानंद आचार्य, प्रकाशन–जांभाणी साहित्य अकादमी बीकानेर–2013 संबंध संख्या–26
19. उपरिवत–सबद–96
20. हिंदी साहित्य का इतिहासः आचार्य रामचंद्र शुक्ल, यूनिक ट्रेडर्स जयपुर, सन्–2013, पृष्ठ–94

Sambhrathal Dhara - A Refereed Research Journal of Comparative
Religion and Philosophy, ISSN: 2395-776X/Year-2026, Vol-1

7

धर्म और नवाचार में योग की भूमिका का आधुनिक परिपेक्ष्य एक समीक्षा

डॉ. सोहन लाल[1] एवं श्री प्रकाश[2]
[1]श्री विश्वकर्मा कौशल विश्वविद्यालय, पलवल
[2]गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिसार

सारांश: धर्म और नवाचार यौगिक अवधारणा के परिपेक्ष्य में

धर्म व्यक्ति को नैतिक दिशा देता है, जिससे नवाचार मानवता के हित में होता है। योग विश्व की सबसे प्राचीनतम विधा है, जो मानव को धर्म, अर्थ काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय से जीवन को पूर्णता प्रदान में अहम् भूमिका निभाती है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः निरंतर परिवर्तन ही हमारी मानव सभ्यता को उन्नत कर रहा है। पाषण युग से लेकर निरंतर प्रगतिशील चिन्तन की बदौलत आज हम संचार, तकनीकी क्षेत्र, शिक्षा, विज्ञानं, स्वास्थ्य, कृषि, अनुसन्धान, वाणिज्य आदि क्षेत्रों में उत्तरोतर उन्नति कर रहे हैं। आज का युग सुचना एवं प्रोद्योगिकी का डिजिटल युग है, जिसमें शिक्षा, बैंकिंग प्रणाली, तकनीकी के क्षेत्र में मानव कृत्रिम बुद्धि तक पहुंच गया है। वर्तमान युग जहाँ एक ओर इतनी उन्नति हो रही है वहीं दूसरी ओर मानव जीवन नैसर्गिकता के अभाव में आज स्वय की आदतों से कृत्रिम जीवन जीने को बाध्य हो रहा है। जिसके कारण विकृत मानव जीवनशैली जन्य व्याधियां जैसे तनाव, चिंता, अवसाद, मनोदैहिक रोगों से ग्रस्त होकर जीवन के आनन्द से वंचित हो रहा है।

नवाचार का विचार सकारात्मक होगा या नकारात्मक होगा स्वार्थपरक होगा या समग्रतायुक्त होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा वातावरण, हमारा शरीर, हमारा मन एवं उसमें उत्पन्न विचारों का स्तर एवं स्वभाव कैसा है, जितना नित्य नई अनुसंधानों, तकनीकों की आवश्यकता है, वहीं इनका मूल आधार मानव मन के दृष्टिकोण का सकारात्मक एवं समग्रता होना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि स्वस्थ एवं संकल्पित मन ही सुदृढ़, सकारात्मक एवं समर्थ विचार को उत्पन्न कर सकता है। वर्तमान युग में योग मार्ग को अपनाकर मानव द्वारा स्वयं के साथ-साथ अन्य प्राणियों के सह अस्तित्व की समझ इस सृष्टि की जैव विविधता को कायम रखकर संसार को एक नई दिशा देने में उपयुक्त होगी। नवाचार के इस युग में आज आवश्यकता है योगमय नैसर्गिक जीवनचर्या की, जो मानव को जीवनमूल्यों पर आधारित जीवन जीने की ओर प्रेरित कर वर्तमान व्यवस्था के प्रति और अधिक उपयोगी व सार्थक बना सके। अतः योग मार्ग का अनुशरण निश्चय ही नवाचार में अपनी अहम भूमिका निभा सकता है।

कुंजी शब्दावली: धर्म, नवाचार, योग, आधुनिक, नवाचार।

नवाचार: नवाचार अर्थात् नवीन ज्ञान/विचार जो आज के परिपेक्ष्य में सार्थक परिवर्तन लाकर जीवन उपयोगी किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करता हो। यह प्राचीन पारंपरिक मूल्यों पर आधारित, नवीन तकनीक या नवीनता युक्त वर्तमान युग अनुसार नूतन विचार भी हो सकता है अथवा अत्याधुनिक शैली अनुसार भी हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ नया कुछ परिवर्तनशील एवं सार्थक विचार नवाचार कहलाता है।

नवाचार का महत्वः यह किसी विशेष गुण तथा नवीनता के कारण आकर्षक एवं उपयुक्त समझा जाता है, यह पूर्व में प्रचलित अवधारणाओं की अपेक्षा अधिक गुणवत्तापरक एवं सार्थक माना जाता है। नवाचार सदैव प्रचलित रूढ़िवादी विचारधाराओं के खिलाफ नवीनता के साथ नवजागरण है। इस तरह यह मानव सभ्यता को सुदृढ़ सुशिक्षित एवं स्वावलंबी बनाने में अहम भूमिका अदा करता है।

योग का नवाचार में महत्व

मानव जीवन की दो महत्वपूर्ण पक्ष, प्रथम शारीरिक द्वितीय मानसिक या दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते हैं अतः शरीर का प्रभाव मन पर तथा मन का प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है यथा पिण्डे तथा ब्रह्मांडे अनुसार जो इस शरीर में घटित हो रहा है। वह सृष्टि में भी घट रहा होता है अर्थात् व्यक्तिगत चेतना तथा सार्वनामिक चेतना में समरूपता रहती है, जैसा मानव है वैसा ही उसका संसार है। इस प्रकार मानव अपनी इन्द्रियों, मन एवं अन्तःकरण के माध्यम से व्यवहार करता है मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का कार्य निर्णय लेना होता है। तत्पश्चात परिस्थितियां अनुसार कर्म करता है। इस तरह मानव जीवन में बुद्धि, भावना और कर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। योगानुसार मन चित्त का एक हिस्सा है, जिसमें संचित संस्कार हमारे भावों को प्रभावित कर कर्म करने को अग्रसर करते हैं जब संस्कार सकारात्मक होते है, तब हमारी चित्त की विभिन्न अवस्थाओं में भी सकारात्मक परिवर्तन होता है तब उसका परिणाम यह होता है कि हमारे चित की अवस्था मूढ़ से क्षिप्त तथा विज्ञप्त से होती हुई एकाग्रावस्था तक पहुंचकर धारणा में प्रवेश कर, चित्त की वृत्तियों (प्रमाण-विपचय विकल्प-निद्रा आदि) को कलिष्ट से अकलिष्ट अवस्था लाकर एक सम्यक चितन के लिए प्रेरित करने में सहायक है। यह सम्यक चिंतन मानव को नवीन शोध एवं नूतन परिकल्पना का हेतु है। इसके अंतर्गत महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन के अष्टांग योग के अंतर्गत सर्वप्रथम यम

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'

जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अर्थात् अहिंसा यानी किसी भी प्राणी के प्रति वैर भावना न रखकर केवल सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय का भाव रखना, सत्य अर्थात् कथनी और करनी में अभेद व्यवहार करना, अस्तेय अर्थात अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर की वस्तु के प्रति अनासक्त भाव रखना, ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्म संयम द्वारा मन को साधकर एक ध्येय की तरफ अग्रसर करना।

नियम-

'शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

इसके अंतर्गत शौच अर्थात् बाह्य तथा आंतरिक शुचिता का पालन करना, संतोष अर्थात् इंद्रिय निग्रह करना, तप अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वंद्वों को सहते हुए अपने लक्ष्य में लगे रहना, स्वाध्याय निरंतर अध्ययनशील, मननशील व आत्म मूल्यांकन करते रहना, ईश्वर प्रणिधान अर्थात् परम सत्ता के प्रति स्वयं को एक निमित्त मात्र समझते हुए 'वसुधैव कुटुंम्बकम' की भावना से कार्य करना और नियम का पालन मानव को शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, मजबूत एवं कर्मठ बनाते हैं, जो की एक स्वस्थ विचार की परिकल्पना में पूर्ण सहायक सिद्ध हो सकता है।

आसन-

स्थिरसुखम् आसनम् अर्थात् नियम के पश्चात आसन का स्थान आता है। यह हमें शारीरिक व्याधियों

से बचाकर मानसिक रूप से भी सुदृढ़ करने में अहम् भूमिका निभाता है। जब शरीर रोग रहित एवं स्थिरता पूर्वक स्थिर होगा तभी मन की चंचलता भी दूर होगी यही आसनों का मुख्य उद्देश्य है।

षटकर्म और सूक्ष्म यौगिक अभ्यासों के पश्चात आसन का अभ्यास किया जाता है। आसन शरीर की मांसपेशियों को लचीला एवं मजबूत बनाकर आंतरिक अंगो को भी पुष्ट करने में कारगर है। इसका नियमित अभ्यास जीवनशैली जन्य व्याधियों को रोकता है। योग ग्रन्थों में आसन के अभ्यास का वर्णन करते हुए बतलाया गया कि यह मन एवं शरीर दोनों के द्वन्द्वों को भी दूर करता है।

आसनों के अभ्यासों को मूलतः तीन भागो में विभाजित किया हुआ है–

क) ध्यानात्मक

ख) शरीर संवर्धनात्मक

ग) विश्रामात्मक

प्राणायाम–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः

अर्थात् श्वास प्रश्वास का नियंत्रणपूर्वक अभ्यास करने से हमारे मस्तिष्क कोशिकाओं में प्राणवायु का व्यवस्थित रूप से संरचरण, याददाश्त, अनिद्रा, बेचैनी आदि मानसिक व्याधियों से मुक्त करने में कारगर है। प्राणायाम के फल के बारे वर्णन मिलता है कि–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्
धारणासु च योग्यता मनसः।

अर्थात् प्राणायाम के निरंतर अभ्यास से बुद्धि से अज्ञानता का आवरण हट जाता है तथा धारणा/एकाग्रता की योग्यता आती है जो कि नवाचार के लिए प्रथम चरण होता है। प्राणायाम का अभ्यास नाड़ियों में रक्त संचार का नियमन, चक्र जागरण व सम्पूर्ण शरीर में प्राण उर्जा को संतुलित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसके नियमित अभ्यास से धारणा शक्ति का विकास होता जिससे चित्त की अस्थिरता दूर होती है। प्राणायाम का अभ्यास मुख्यता तीन चरणों में पूर्ण होता है–

पूरक (श्वास को अंदर भरना)

कुम्भक (श्वास को रोकना)

रेचक (श्वास को बाहर छोड़ना)

प्रत्याहार–

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार
इवेंद्रियाणाम् प्रत्याहारः

अर्थात् आंख, कान, नाक आदि ज्ञानेंद्रिय और उनके अधिष्ठाता मन के अतियोग एवं मिथ्यायोग को रोककर समयोग द्वारा एकाग्र चित्त होकर ध्येयरत्त रहने में कारगर है। **'ततः परमा वश्यते इंद्रियाणाम्'** प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित होता है जो कि हमारे चित्त कि संकल्प शक्ति को दृढ़ करने अहम भूमिका निभाता है।

धारणा–

'देशबन्धचित्तस्यधारणा'

अर्थात् चित्त को शरीर के बाहर या भीतर किसी निश्चित स्थान पर एकाग्र करना। किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में सर्वप्रथम उस लक्ष्य के प्रति हमारी एक दृढ़ धारणा बनना अति आवश्यक है, यह भी आवश्यक है कि अवधारणा सकारात्मक सार्वभौमिक एवं जनकल्याण आत्मकल्याणार्थ भी हो, जिससे उत्पन्न परिकल्पना भी सार्थक एवं जीवन उपयोगी हो सके।

ध्यान–

तत प्रत्येकतानता ध्यानम्।

अर्थात् धारणा की उच्च अवस्था में चित्त की विषय रहित स्थिति ध्यानावस्था है। वर्तमान समय में आधुनिक शोध निष्कर्षों के आधार पर सिद्ध हो चुका

है कि ध्यान से तनाव, चिंता, अवसाद आदि दूर होकर शारीरिक व्याधियों से मुक्ति दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया जा रहा है। इसके साथ साथ ध्यान अभ्यास मानव मस्तिष्क की क्रियाशीलता में सकारात्मक परिवर्तन होता है, जो मानव को अतिंद्रीय ज्ञान को जानने समर्थ बनाता है। ध्यान के निरंतर अभ्यास से इस भौतिक जगत के पक्ष को स्पष्ट से जान पता है और सूक्ष्म जगत के वर्तमान विज्ञान द्वारा नित्य नए-नए शोध को प्रमाणित किया जा रहा है जो पूर्व में प्राचीन समय से योग ऋषियों द्वारा ध्यान की उच्च अवस्था में जाना जा चुका है और आधुनिक काल में यह समस्त ज्ञान प्रक्रिया है जो आज के समय में नवाचार/नवीन तकनीकी/खोज के रूप में सामने आ रही है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्

अर्थात् प्राचीनकाल में नाभि में ध्यान करने से शरीर रचना विज्ञान की जानकारी होती थी, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी चरणबद्ध तरीकों से यही खोज की जा रही है, जो प्राचीनकाल में ऋषि मुनियों द्वारा योग विद्या के माध्यम से भी जानी जाती रही है।

भुवनज्ञानम् सूर्ये संयमात्
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्
ध्रुवे तदगतिज्ञानम्

आधुनिक समय में ग्रह नक्षत्रों आदि की जानकारी हेतु खगोल वैज्ञानिक लगे हुए हैं, ठीक उसी प्रकार प्राचीन समय में ऋषियों द्वारा ध्यान अवस्था में विभूतियों के माध्यम से इन ग्रह नक्षत्रों की सम्यक जानकारी प्राप्त की जाती थी।

योग अभ्यासों का महत्व

मानव जीवन को वैज्ञानिक आविष्कारों ने सरलतम एवं व्यवस्थित बनाने में अपना अहम योगदान दिया है। किंतु फिर भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले भी कभी-कभी स्वयं को मानसिक एवं शारीरिक रूप से असक्षम महसूस करते हैं, क्योंकि कोई परिकल्पना/चिंतन करते हुए अनेकों बाधाओं का सामना करना ही पड़ता है, जिन्हें योग की परिभाषा में बाधक या विघ्न कहकर संबोधित किया गया है-

'व्याधि-सत्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रांतिदर्शन।
अलव्धभूमिकत्व अनावस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तराया:'

अर्थात् सर्वप्रथम शारीरिक व्याधि ज्वर दाह, पीड़ा चोट-मोच इत्यादि के पश्चात मन का निष्क्रिय होना स्वयं के विचार एवं कार्य पर संदेह होना, मशीनी युग के चलते आलस्य के कारण अनेकों कार्यों में विलंब होना, लापरवाही सांसारिक चकाचौंध में स्वयं को लिप्त होने के कारण प्रमुख कार्यों को करने में विलंब होना तथा भ्रांतिदर्शन अर्थात् विपरीत ज्ञान का होना किसी लक्ष्य की प्राप्ति में लंबे समय से मेहनत के बावजूद किसी भी स्तर पर सफलता नहीं मिलना साथ ही लक्ष्य की प्राप्ति होने के बाद, उस स्थिति को कायम न रख पाना इत्यादि अनेकों विघ्न आते हैं। जिससे हमारे द्वारा की जाने वाली नवीन परिकल्पना/चिंतन प्रभावित होता है। उक्त विघ्नों को योग के माध्यम से योगाभ्यास के माध्यम से दूर करने के उपाय योग दर्शन में बतलाए गए हैं। तत्त प्रतिषेधार्थ एकतत्वं अभ्यास: 'अष्टांगयोग का पालन, ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव, मैत्री-करुणा-मुदिता आदि भावना रखना, बार-बार श्वास को बाहर छोड़ना, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध विषयों वाली प्रवृत्ति से मन की स्थिति बांधी जा सकती है, उक्त में से किसी एक अभ्यास करने से भी चित्त का प्रसाधन अर्थात् चंचलता दूर होकर एकाग्र करने में सहायक होता है।

धारणा ध्यान समाधि के संयुक्त अभ्यास को

सयंम कहा गया है। योग सूत्र अनुसार नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् अर्थात् नाभि में संयम से कार्य व्यूह अर्थात् शरीर की रचना का ज्ञान होता है। चन्द्रे तारा व्यूहज्ञानम् चंद्रमा में संयम से नक्षत्र तारे आदि का ज्ञान हो जाता है, ऐसे ही ध्रुव तारे में संयम करने से अनेकों तारों की गति का ज्ञान हो जाता है, काठकूप में संयम करने से भूख प्यास की निवृत्ति हो जाती है और एक महत्वपूर्ण बात की प्रातिभज्ञान से समस्त ज्ञानों की प्राप्ति होती है। योग अभ्यास से अणिमा-लघिमा-महिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है अर्थात् अणिमा यानी सूक्ष्म से सूक्ष्मअन्वेषण करने की प्रतिभा, महिमा अर्थात् विराट एवं दूरदृष्टा भाव से चिंतन करने की योग्यता आती है। रामायण में भी एक प्रसंग आता है-

सूक्ष्म रूप धरहिं सियहि दिखावा
विकट रूप धरि लंक जरावा।

अर्थात् हनुमान जी ने सीता जी के सामने जब प्रकट हुए तो उन्होंने सूक्ष्म रूप धारण किया हुआ था और जब उनकी पूछ में आग लगा दी तब एक विशाल रूप धारण करते हुए समस्त लंका को आग लगा दी। साथ ही हनुमान जी को अष्ट सिद्धि और नव निधि के दाता भी माना गया है।

अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता अश्वर दीन जानकी माता।

यह समस्त सिद्धियां और बुद्धि की कुशाग्रता हनुमान जी में योग बल का ही प्रतिफल था।

योग अभ्यास हेतु आवश्यक एवं महत्वपूर्ण निर्देश-

योग अभ्यास में मूलत: तीन महत्वपूर्ण पहलुओं को ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है, जो निम्न है-

स्थान-

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे कुटी तत्र
विनिर्माय प्राचिरैः परिवेष्टिताम!
वापी कूपतड़ाग च प्राचीर मध्यवर्ति च नात्युच्चं
नातिनीचं कुटीरं कीटवर्जितम!
सयग्गोमय लिप्तं च् कुटीरं तत्रनिर्मित एवं
स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत!

(हठप्रदीपिका)

सर्वप्रथम स्थान का चुनाव बहुत ही महत्वपूर्ण है, स्थान एकांत हो, खुला व हवादार हो। न ज्यादा ऊँचा तथा न ज्यादा नीचा अर्थात् समतल हो, गर्मी-सर्दी, वर्षा से बचाव करने वाला हो, कोलाहल से रहित हो।

काल-

घेरंड संहिता अनुसार योगारम्भ और अभ्यास के लिए उत्तम ऋतु चर्या का वर्णन मिलता है-

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायाँ च ऋतौ तथा
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः
वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्
तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्।

(घेरंड संहिता)

अर्थात् योगरम्भ के लिए बसन्त अथवा शरद ऋतु श्रेष्ठ बताई गई है। इन ऋतुओं में भी प्रात:काल का समय अधिक उपयुक्त बताया गया है।

आहार-

हठ प्रदीपिका अनुसार योगाभ्यास के लिए पथ्यापथ्य

सुस्निद्धमधुराहाराश्चतिर्थां शविवर्जितः
भुज्यते शिवसंप्रित्ये मिताहारः स उच्यते।

अर्थात् आहार का वर्णन करते हुए योग शास्त्रों में बताया गया है योग अभ्यासी को हमेशा मित्तभुक, ऋतभुक तथा हित्तभुक का पालन करते हुए अर्थात् शारीर के हितानुसार, ऋतुनुकुल व थोड़ा अल्प और अपने आराध्य को भोग लगाकर ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

यौगिक आहार के अंतर्गत मित्ताहार को महत्व देते हुए वर्णन मिलता है कि आमाशय के चार भागों में

से 2 भाग ठोस पदार्थ हेतु एक भाग तरल पदार्थ हेतु और शेष चौथाई भाग वायु के संचरनार्थ रिक्त छोड़कर आहार लेना।

पथ्य हरी शाक, सब्जियां यथा लौकी, तोरई, परवल, चोलाई, पालक, मैथी, जिमीकंद, शकरकंद, चना, सोयाबीन, मूंग, मगहर, उड़द आदि दालें, गेहूं, रागी, शष्टिकधान्य आदि।

अपथ्य बासी भोजन, मांस, मदिरा, अति उष्ण आहार, अति लवण व तेल युक्त आहार का सेवन न करे।

सामान्य योग अभ्यास क्रम योजना

प्रार्थना– जिस माध्यम से हम उस परम शक्ति से स्वयं को जोड़ने की अनुभूति के भावों के द्वारा करें, प्रार्थना कहलाती है। प्रार्थना का भाव हमें अपने अन्तर जगत से जोड़ने में अहम भूमिका निभाता है। अतः योग अभ्यास का आरम्भ प्रार्थना से किया जाता है।

ओंकारम् बिन्दु-संयुक्तम् नित्यं ध्यानयन्ति योगिनः।

कामदं मोक्षसदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥

अर्थात् ॐकारं बिन्दु संयुक्तं पवित्र शब्दांश 'ओम' और उसके ऊपर स्थित बिंदु (बिंदु) का एक संयोजन है। यह मंत्र गहरा आध्यात्मिक महत्व रखता है और विभिन्न लाभों से जुड़ा है। मंत्र शिव (शुद्ध चेतना) और शक्ति (रचनात्मक ऊर्जा) के मिलन का प्रतिनिधित्व करता है। यह आध्यात्मिक साधकों के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में कार्य करता है, जिससे उन्हें अपनी अंतर्निहित दिव्यता का एहसास होता है।

सामान्य योग अभ्यास क्रम योजना

क्र.सं.	योग अभ्यास	विवरण	आवर्ती	समय
1.	षट्कर्म	यदि पित्त और कफ असंतुलित हो, तभी शुद्धि क्रियाओं का अभ्यास करें।	–	–
2.	प्रार्थना	भावानुसार	–	–
3.	सूक्ष्म व्यायाम	ग्रीवाशक्ति विकासक स्कन्धशक्ति विकासक कटिशक्ति विकासक जानुशक्ति विकासक गुल्फनमन	प्रत्येक अभ्यास 3 बार	10 मिनट
4.	आसन	खड़े होकर–ताड़ासन, वृक्षासन, कटिचक्रासन बैठकर– मंडूकासन, शशांकासन, वक्रासन पेट के बल लेटकर–भुजंगासन, शलभासन पीठ के बल लेटकर–पवनमुक्तासन, सेतुबन्धासन संतुलन के अभ्यास– वृक्षासन, धनुरासन	प्रत्येक अभ्यास 3 बार	15 मिनट
5.	प्राणायाम	सूर्यभेदी, चन्द्रभेदी, उज्जायी, शीतली, सीत्कारी, भस्त्रिका, भ्रामरी, नाड़ीशोधन	आवश्यक–तानुसार	10 मिनट
6.	ध्यान			5 मिनट
	कुल समय			**45 मिनट**

निष्कर्ष:

योग की विभिन्न पद्धतियां प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक चली आ रही है। इन सभी पद्धतियों को मनुष्य देशकाल जाती वह भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार चुनकर पालन करता है और अपने जीवन को सुंदर बनता है। इसके अतिरिक्त योग जीवन पद्धति सीखने के साथ–साथ योग के अंगों का पालन करते हुए अपने मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। इस बिंदु से सिंधु की यात्रा में प्रतिफल के रूप में नवाचार की बहुत सी विधाओं को जान पता है जैसे कि मां के स्वरूप को समझना संकल्प विकल्प के भावों को रूपांतरण करना सीखना उन संकल्प विकल्पों की दिशा को नकारात्मकता से सकारात्मक की और रूपांतरित करना यह सभी प्रक्रियाएं आधुनिक समय के मनोविज्ञान के विभिन्न वैज्ञानिक परमाणु के बारे में समझते हैं। चित्र प्रसारण के योग उपाय को आधुनिक मनोचिकित्सा के रूप में उपयोग में लाया जाता है जो नवाचार का ही एक स्वरूप है। इसी प्रकार ज्ञान की अनेक विधियां योग साधना में बतलाई गई है। शरीर के अलग–अलग हिस्सों पर ध्यान करने से स्थूल जगत के अनेक नवाचार की प्रक्रिया का ज्ञान होता है जिसमें नाभि में ध्यान करने से शरीर विज्ञान का आत्महत्या होता है। इस प्रक्रिया को आधुनिक जगत में विज्ञान द्वारा बड़ी–बड़ी प्रयोगशालाओं में मानव शरीर क्रिया विज्ञान की अलग–अलग खोज के रूप में दर्शाया वह समझाया जाता है। अत: नवाचार में योग की महत्वपूर्ण भूमिका सिद्ध होती है योग नवरी जिज्ञासों के लिए एक बहुत उपयोगी खजाना है।

सन्दर्भ:

- यथा पिण्डे तथा ब्रह्मांडे
- स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक कृत: पातंजल योग दर्शन (वानप्रस्थ साधक आश्रम, रोजड़, गुजरात)
- स्वामी ओमंनद तीर्थ कृत: पातंजल योगप्रदीप (गीता प्रेस, गोरखपुर)
- हठप्रदीपिका, रचियता स्वामी स्वात्माराम (कैवल्य धाम, लोनावला)
- घेरंड संहिता, महर्षि घेरंड द्वारा रचित (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- तन्त्र के आलोक में ध्यान (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- प्राण और प्राणायाम (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- रोग और योग (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- योग दर्शन (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- आसन–प्राणायाम–मुद्रा–बंध (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुंगेर)
- योगासन विज्ञानं, स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी
- हनुमान चालीसा (गीता प्रेस, गोरखपुर)
- रामायण (गीता प्रेस, गोरखपुर)
- गीता (गीता प्रेस, गोरखपुर)

8 रामचरितमानस में भारतीय समाज की अवधारणा

पुरुषोत्तम थोरी
उप प्राचार्य,
मुख्य ब्लॉक शिक्षा अधिकारी, समग्र शिक्षा, केरु, जोधपुर

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस हिन्दी साहित्य की वह महाकाव्यात्मक कृति है जो केवल भक्ति या धार्मिक आख्यान तक सीमित न होकर भारतीय समाज, उसकी संरचना, मूल्य–व्यवस्था, लोकधर्म, राजनीतिक चेतना और सांस्कृतिक मानस का एक व्यापक, गहन तथा बहुआयामी दस्तावेज प्रस्तुत करती है। यह ग्रंथ मध्यकालीन भारतीय समाज की आत्मा का साक्षात्कार कराता है, जहाँ एक ओर राजनीतिक अस्थिरता, विदेशी आक्रांताओं का भय, सामाजिक विषमता और धार्मिक विघटन व्याप्त था, वहीं दूसरी ओर लोकमानस में धर्म, मर्यादा और नैतिकता के प्रति गहरी आस्था भी जीवित थी। तुलसीदास ने इसी जटिल और विरोधाभासी सामाजिक यथार्थ को आधार बनाकर एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना की, जो शास्त्रीय परंपरा से अनुप्राणित होते हुए भी लोकजीवन से गहरा से जुड़ा हुआ है।

मध्यकालीन समाज की संरचना को समझने के लिए मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा विविध धर्मशास्त्रों और पुराणों का अध्ययन अनिवार्य है। इन ग्रंथों में वर्णाश्रम धर्म को सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार माना गया है। मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समाज का संतुलन तभी संभव है जब प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार निर्धारित कर्तव्यों का पालन करे। तुलसीदास इसी शास्त्रीय अवधारणा को स्वीकार करते हैं, किंतु उसे कठोर विधि–विधान के रूप में नहीं, बल्कि लोकमंगल के साधन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। रामचरितमानस में वर्णाश्रम व्यवस्था एक नैतिक और कर्तव्यपरक ढाँचे के रूप में सामने आती है, जहाँ प्रत्येक वर्ग का उद्देश्य समाज की समग्र भला है। ब्राह्मण ज्ञान और धर्म का प्रतिनिधि है, क्षत्रिय शासन और संरक्षण का, वैश्य अर्थव्यवस्था का और शूद्र सेवा तथा श्रम का। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से यह व्यवस्था आलोचना के योग्य है, फिर भी तुलसी के यहाँ यह शोषण नहीं, बल्कि सामाजिक समन्वय का माध्यम बनती है।

धर्मशास्त्रों में वर्णित राजा की अवधारणा तुलसी के राजनीतिक चिंतन की आधारभूमि है। मनुस्मृति में राजा को प्रजा का पालक, रक्षक और धर्म का प्रवर्तक कहा गया है। तुलसीदास इस धारणा को और अधिक मानवीय तथा नैतिक स्वरूप प्रदान करते हैं। रामराज्य का चित्रण केवल एक धार्मिक कल्पना नहीं, बल्कि एक आदर्श सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था का प्रतीक है। आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टि से रामराज्य को नैतिक राज्य (ethical state) की संकल्पना के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ सत्ता का उद्देश्य शोषण नहीं, बल्कि लोककल्याण है। रामराज्य में दंड–व्यवस्था भय पर नहीं, बल्कि धर्म और नैतिकता पर आधारित है। यह राज्य कल्याणकारी राज्य (welfare state) की पूर्व–आधुनिक अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ सामाजिक सुरक्षा, न्याय, समानता और करुणा प्रमुख मूल्य हैं– **'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम**

राज नहिं कहुहिं व्यापा।'

तुलसीदास का समाज-चिंतन केवल सत्ता या संरचना तक सीमित नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति के आचरण और चरित्र पर विशेष बल देता है। धर्मशास्त्रों में वर्णित 'आचार' की अवधारणा को तुलसी लोकभाषा में प्रतिष्ठित करते हैं। उनके अनुसार समाज की वास्तविक शक्ति कानून या शासन में नहीं, बल्कि व्यक्ति की नैतिक चेतना में निहित है। यही कारण है कि रामचरितमानस में बार-बार सदाचार, सत्य, करुणा, दया, क्षमा और परोपकार जैसे मूल्यों की पुनरावृत्ति होती है। यह पुनरावृत्ति साहित्यिक दोष नहीं, बल्कि सामाजिक आग्रह है। तुलसी यह मानते हैं कि जब तक व्यक्ति के भीतर नैतिकता जीवित नहीं होगी, तब तक को भी सामाजिक व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती।

नारी के संदर्भ में तुलसीदास की दृष्टि को केवल कुछ पंक्तियों के आधार पर संकीर्ण रूप में देखना न्यायसंगत नहीं है। मनुस्मृति और अन्य स्मृतिग्रंथों में नारी को कभी पूजनीय तो कभी नियंत्रित ईकाई के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तुलसीदास इसी परंपरा के भीतर रहते हुए नारी के आदर्श स्वरूप को प्रतिष्ठित करते हैं। सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूइया, शबरी और मंदोदरी जैसे पात्र नारी के त्याग, करुणा, धैर्य, विवेक और नैतिक शक्ति को उजागर करते हैं। सीता का चरित्र केवल पतिव्रता नारी का नहीं, बल्कि आत्मसम्मान, साहस और नैतिक दृढ़ता का प्रतीक है। वनवास, अपहरण और अग्निपरीक्षा जैसे प्रसंगों में सीता का धैर्य और आत्मबल नारी की आंतरिक शक्ति को रेखांकित करता है।

वर्ण-व्यवस्था पर तुलसी की दृष्टि आलोचनात्मक और संतुलित है। वे वर्ण को जन्म के बजाय कर्म से जोड़ते हुए दिखा देते हैं। शबरी, निषादराज और केवट जैसे पात्र इस बात के प्रमाण हैं कि भक्ति और सदाचार के सामने जातिगत भेद गौण हो जाता है। यह दृष्टि भक्ति आंदोलन की समतावादी चेतना से जुड़ी हुई है। कबीर जहाँ वर्ण-व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हैं, वहीं तुलसी उसे लोकमर्यादा के भीतर रहते हुए मानवीय बनाते हैं। यही कारण है कि उनका सुधारवाद उग्र न होकर समन्वयकारी है।

भक्ति और लोकधर्म तुलसीदास के सामाजिक चिंतन के केन्द्रीय तत्त्व हैं। भागवत पुराण में प्रतिपादित भक्ति की अवधारणा को तुलसीदास ने सामाजिक दायित्व से जोड़ा। उनके यहाँ भक्ति केवल व्यक्तिगत मोक्ष का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक समरसता और नैतिकता का माध्यम है। राम के प्रति भक्ति का अर्थ है- सत्य, मर्यादा और करुणा के प्रति निष्ठा। लोकधर्म वह धर्म है जो जनसाधारण के जीवन से जुड़ा हुआ है, जो कर्म, सेवा और परोपकार के रूप में व्यक्त होता है। तुलसी का राम लोकनायक है, जो समाज के प्रत्येक वर्ग के दु:ख-दर्द को समझता है।

तुलसीदास पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें लोकमंगल की साधना करने वाला कवि कहा है। उनके अनुसार तुलसी का काव्य भारतीय जनता की नैतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तुलसी को 'लोकनायक' कहकर उनकी सामाजिक भूमिका को रेखांकित किया है। द्विवेदी के मत में तुलसी ने शास्त्र और लोक के बीच सेतु का निर्माण किया। नगेन्द्र ने तुलसी के काव्य को सांस्कृतिक समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण माना है, जहाँ परंपरा और परिवर्तन का संतुलन दिखा देता है। इन आलोचकों के मत से स्पष्ट होता है कि तुलसीदास केवल भक्त कवि नहीं, बल्कि गहरे समाज चिंतक भी हैं।

आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टि से यदि रामचरितमानस का अध्ययन किया जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि तुलसीदास का समाज आदर्शवादी होते हुए भी पूर्णत: काल्पनिक नहीं है। यह एक मानक समाज

(normative society) की परिकल्पना है, जो यथार्थ समाज को दिशा प्रदान करती है। आज के समय में जब समाज विघटन, नैतिक संकट और मूल्यहीनता से जूझ रहा है, तब तुलसी का लोकधर्म, कर्तव्यबोध और करुणा–आधारित सामाजिक दृष्टिकोण अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होता है।

इस प्रकार रामचरितमानस में प्रस्तुत भारतीय समाज की अवधारणा एक बहुआयामी, गहन और समन्वयकारी दृष्टि प्रदान करती है। इसमें शास्त्र, लोक, भक्ति, नीति और समाज का ऐसा संतुलन है जो इसे कालातीत बनाता है। तुलसीदास ने जिस समाज का स्वप्न देखा था, वह आज भी भारतीय चेतना में जीवित है और भविष्य में भी सामाजिक चिंतन के लिए प्रेरणास्रोत बना रहेगा।

शास्त्रीय आधार को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए यह आवश्यक है कि रामचरितमानस की सामाजिक अवधारणा को सीधे संस्कृत धर्मग्रंथों की परंपरा से जोड़कर देखा जाए। मनुस्मृति में कहा गया है– 'आचार: परमो धर्म:' अर्थात् आचार ही परम धर्म है। तुलसीदास इसी सूत्र को लोकभाषा में प्रतिष्ठित करते हैं। राम का संपूर्ण जीवन आचार की कसौटी पर खरा उतरता है– पुत्र, पति, भ्राता, मित्र और राजा के रूप में। याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णित है– 'राजा धर्मस्य कारणम्' अर्थात् राजा ही धर्म की स्थापना का मुख्य साधन है। तुलसी इसी शास्त्रीय अवधारणा को रामराज्य के माध्यम से मूर्त करते हैं, जहाँ राजा स्वयं को प्रजा का सेवक मानता है। भागवत पुराण में भक्ति को 'अहैतुकी' और 'अप्रतिहता' कहा गया है– **'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।'** तुलसी की भक्ति भी इसी निरपेक्ष भक्ति की अवधारणा से जुड़ी है, किंतु वह उसे सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग नहीं करते।

धर्मशास्त्रों में नारी की स्थिति को लेकर द्वंद्वात्मक दृष्टि मिलती है। एक ओर कहा गया है– **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'**, तो दूसरी ओर नारी को नियंत्रण की आवश्यकता वाली ईकाई के रूप में देखा गया। तुलसीदास इसी परंपरा में रहते हुए नारी के आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हैं, किंतु आधुनिक दृष्टि से यह स्वीकार करना होगा कि उनकी नारी–दृष्टि पूर्णत: मुक्तिवादी नहीं है। सीता का आदर्श अत्यंत उच्च है, पर वह त्याग और सहनशीलता पर आधारित है। आधुनिक नारीवादी आलोचना इस बिंदु पर तुलसी की सीमाओं को रेखांकित करती है। फिर भी यह भी सत्य है कि मध्यकालीन सामाजिक यथार्थ में रहते हुए तुलसी ने नारी की गरिमा को जितनी प्रतिष्ठा दी, वह अपने समय की तुलना में प्रगतिशील कही जा सकती है।

तुलसीदास की सीमाओं पर विचार करना किसी भी गंभीर शोध का अनिवार्य अंग है। वर्ण–व्यवस्था को लेकर उनका दृष्टिकोण सुधारवादी होते हुए भी क्रांतिकारी नहीं है। वे व्यवस्था को पूर्णत: अस्वीकार नहीं करते, बल्कि उसे नैतिक बनाने का प्रयास करते हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक और समानतावादी मूल्यों की कसौटी पर यह दृष्टि अपर्याप्त लग सकती है। इसी प्रकार रामराज्य की अवधारणा धर्म–आधारित है, जो आधुनिक अर्थों में धर्मनिरपेक्ष नहीं कही जा सकती। सत्ता और धर्म का यह घनिष्ठ संबंध आज के बहुलतावादी समाज में प्रश्नांकित होता है। किंतु यह आलोचना करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि तुलसी का युग आधुनिक राष्ट्र–राज्य का युग नहीं था। उनका लक्ष्य सत्ता की संरचना नहीं, बल्कि नैतिक समाज की स्थापना था।

आधुनिक समाज के संदर्भ में जाति, नारी, सत्ता और धर्मनिरपेक्षता जैसे प्रश्न अत्यंत जटिल रूप ले चुके हैं। तुलसीदास का समाज इन प्रश्नों का सीधा समाधान नहीं देता, किंतु एक नैतिक दृष्टि अवश्य

प्रदान करता है। जाति के संदर्भ में उनका बल कर्म और भक्ति पर है; नारी के संदर्भ में मर्यादा और गरिमा पर; सत्ता के संदर्भ में सेवा और न्याय पर और धर्म के संदर्भ में लोकमंगल पर। आधुनिक समाज यदि इन मूल्यों को आत्मसात करे, तो अनेक सामाजिक विकृतियों का शमन संभव है। इस दृष्टि से तुलसी का समाज-विचार आज भी संवाद के लिए प्रासंगिक है।

आलोचकों के मतों का संवादात्मक विश्लेषण तुलसीदास के महत्व को और स्पष्ट करता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जहाँ तुलसी को लोकमंगल का कवि मानते हैं, वहीं हजारी प्रसाद द्विवेदी उन्हें लोकनायक के रूप में देखते हैं। शुक्ल का बल नैतिक चेतना पर है, जबकि द्विवेदी का बल सांस्कृतिक नेतृत्व पर। नगेन्द्र तुलसी को समन्वय का कवि मानते हैं, जो परंपरा और परिवर्तन के बीच संतुलन साधते हैं। इन तीनों दृष्टियों को मिलाकर देखने पर तुलसीदास का व्यक्तित्व एक ऐसे कवि-चिंतक के रूप में उभरता है, जो समाज को न तो तोड़ना चाहता है और न ही जड़ बनाए रखना, बल्कि उसे नैतिक आधार पर गतिशील बनाना चाहता है।

इस समग्र विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि रामचरितमानस में प्रस्तुत भारतीय समाज की अवधारणा न तो एकांगी है और न ही कालबद्ध। यह अपने युग की सीमाओं के भीतर रहते हुए भी ऐसे सार्वकालिक मूल्यों की स्थापना करती है, जो प्रत्येक युग में पुनर्व्याख्या की माँग करते हैं। यही कारण है कि तुलसीदास का काव्य आज भी केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि सामाजिक विमर्श का सशक्त माध्यम बना हुआ है।

संदर्भः

1. तुलसीदास- रामचरितमानस, विभिन्न प्रमाणिक संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. तुलसीदास-कवितावली, संपा. रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. वाल्मीकि-वाल्मीकि रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. मनुस्मृति, संपा. एवं हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. याज्ञवल्क्य स्मृति, संपा. शास्त्रीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
6. भागवत पुराण, स्कंध-विश्लेषण सहित संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
7. रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
8. रामचन्द्र शुक्ल-गोस्वामी तुलसीदास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. नगेन्द्र- भक्ति आंदोलन और हिन्दी कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
12. बच्चन सिंह-हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
13. नामवर सिंह-छायावाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
14. डॉ. विष्णु प्रभाकर- भारतीय समाज और संस्कृति, साहित्य भवन, इलाहाबाद।
15. डॉ. शिवकुमार मिश्र- भारतीय भक्ति परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
16. डॉ. रामविलास शर्मा- भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

9 श्रीमंत शंकरदेव और रैदास की वाणी में मानवतावादी चेतना का स्वर

डॉ. रवि कुमार
खसरा नं. 402, डी-ब्लॉक, लक्ष्मी विहार, बुराड़ी, दिल्ली-110084
ई.मेल- ravi17893@gmail.com

संत वाणी तत्कालीन युग में सामन्तवादी और रूढ़िवादी परिवेश में मानवतावादी चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति है। इनकी वाणी ने जाति-पांति के भेदभाव, धर्म के नाम पर प्रचलित कर्मकांड, मूर्ति पूजा, तीर्थाटनों आदि बाह्याडम्बरों एवं सामाजिक उत्पीड़न का पुरजोर विरोध किया। संतों का उद्देश्य सामाजिक भाव को जागृत करना था। संत कवियों में गुरु रविदास (रैदास) और श्रीमंत शंकरदेव की अहम् भूमिका इस सामाजिक समरसता में रही हैं। भले ही वे एक दूसरे के समकालीन नहीं थे परंतु दोनों की वाणी के कथ्य में अद्भुत समानता है। संतों ने भारतीय जनजीवन में सामंजस्य बनाए रखने पर सर्वाधिक बल दिया है। कन्हैयालाल मिश्र का कथन है कि 'राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों ने मानव समाज को छोटी बड़ी जातियों में बांट दिया, मानवों के एक बड़े समूह को उन अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया जो पशुओं को भी प्राप्त हैं।'[1] संतों ने अपनी वाणी से सामाजिक विभेद को दूर करने की कोशिश की है और सामाजिक समानता पर अधिक बल दिया है। तभी इन संतो ने कर्म के आधार पर जीवन को महत्त्व दिया न कि जन्माधारित वर्ण व्यवस्था को, **'जो तू बामन बांमनी जाया, आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया।'**[2]

समाज में शास्त्र के नाम पर धर्म को चलाने वाले पाखंडियों ने अनेक बंदिशें लगा रखी थी, जिसका खामियाजा आम जनता भुगत रही थी। इसलिए इन संतों ने कागज पर लिखी बातों को झुठलाते हुए आँखों देखे सच को समाज का धर्म बनाया, **'तेरा मेरा मनुवां कैसे एक होइ रे/मैं कहता हौं आँखन देखि, तू कहता कागद की लेखी'**।[3] अनुभव से प्राप्त सत्य को इन संतों ने अपनी वाणी का मुख्य आधार बनाया। संतों की एक लंबी परंपरा समाज में मौजूद रही है, यह केवल उत्तर भारत तक सीमित नहीं रही बल्कि दक्षिण, पूरब और पश्चिम सभी तरफ संत परंपरा मौजूद रही, लेकिन इन सभी संतों के अनुभव का सत्य एक सा रहा। इसकी एक वजह यह हो सकती हैं कि सत्य चाहे किसी युग का या समाज का क्यों न हो, सत्य हमेशा सत्य ही रहेगा उसे दबाया या कुचला नहीं जा सकता है और एक दूसरी वजह इन संतों का यायावर प्रवृत्ति का होना है। समाज के इन संतों ने ज्ञान प्राप्त करने या उसमें वृद्धि के लिए यात्रायें की और समाज के भोगे हुए सत्य को अपनी वाणी का रूप दिया।

मानस प्रेम के धर्म को मनुष्य इतनी आसानी से नहीं समझ सकता है, क्योंकि यह समाज अनेक धर्मों, जातियों, अंधविश्वासों और मन के द्वंद्व में घिरा हुआ है - **'दोय मन दोय दिल सिवी न कंथा, दोय मन दोय दिल पुली न पन्था।'**[4] उसके लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा इसकी समझ वो खो चुका है, क्योंकि समाज को चलाने वाले पंडित, साधु, काजी सभी पथ से भटक चुके हैं-

'बामण था ते वेदे भूला, काजी कलम गुमाई।
जोग विहूंणां जोगी भूला, मुडियै अकलि गुमाई।'[5]

खोए हुए इस समाज को पथ पर लाने का कार्य

केवल अच्छा गुरु कर सकता है, क्योंकि गुरु की महिमा से हम अपने जीवन का निर्माण कर सकते हैं। गुरु की महिमा को शास्त्रों में ईश्वर से भी अधिक बताया गया है– **'गुरुब्रह्मा गुरुविष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः। /गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।'**[6] भक्त कवियों ने गुरु को जीवन में सर्वोपरि माना है। लगन के साथ श्रवण द्वारा तथ्यों का विचार करना, परखना, मनन करना और सही निष्कर्ष पर पहुँचना गुरु के द्वारा ही संभव है– **'गुरु प्रसादे केवल ग्यांने'**।[6] कबीर, गुरुनानक, मलूकदास, दादूदयाल, तुलसीदास, रैदास, श्रीमंत शंकरदेव आदि संतों ने गुरु कृपा की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है– **'कबीर राम नाम के पंटतरै, देबे कौं कुछ नाहिं।/क्या ले गुरु संतोषिये, होस रही मन माहिं॥'**[8]

संत कवियों का मानना था कि अलौकिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सद्‌गुरु की कृपा जरूरी है। परमात्मा जगत की प्रत्येक वस्तु में और प्रत्येक वस्तु उसमें समायी हुई है। संतों ने गुरु का चित्रण आराध्य के रूप में किया है– **'हो अंखियां गुरु दरशन की प्यासी।/इकटक लगी पंथ निहारूं, तनसं भई उदासी।'**[9] श्रीमत शंकरदेव भी गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि **'करता जो जन भक्ति-ज्ञान प्रदान।/करता जो उसकी सेवा, तर जाता संसार सुजान॥/अतः वही है नरोत्तम बुद्धिमान।/जगत में और नहीं कोई उसके सामान॥/भक्ति ज्ञान दाता गुरु बिन नहीं कोई सेवा-वंदन।/बार-बार समझाया तुम्हें, समझ लो कथन।'**[10] एक अच्छा गुरु ही जीवन के नाव को सही किनारे तक पहुँचा सकता हैं– **'यह नर-नर है नाव सुदृढ़, सुसार। /उपदेश दाता गुरु इसके खेवनहार॥'**[11] संत रैदास अन्य संतों की तरह उतने स्पष्ट रूप में सद्‌गुरु की महिमा को नहीं दिखाते परन्तु गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति को वो असंभव मानते हैं। रैदास परम्परागत रूढ़ धर्म के स्वरूप का परित्याग करने की बात अपनी वाणी में करते हैं और इसके लिए रैदास गुरु को ही अपना मार्ग निदेशक मानते हैं –

'ज्ञान विचार चरण चित राखै हरि की चरण गहैं रे।
पाती तोरै पुजिरचावै तारन तरन कहै रे।
त्रिविधि संसार कौन बिधि तिरबो जे डिढ़ नाव गहैं रे।
नाव छाड़ि वे डूंगे पैसे दूना दुःख सहै रे।
गुरु को शब्द और सुरति कुदाली खोदत कोई लहै रे।'

संतों ने अपनी वाणी में गुरु को परमात्मा का रूप माना है। इस संदर्भ में बाबू श्यामसुंदर दास का कथन हैं, 'यह शंकर का अद्वैत है जिसमें आत्मा और परमात्मा परमार्थतः एक माने जाते हैं परन्तु बीच में अज्ञान के आ पड़ने से आत्मा अपनी परमार्थिकता को भूल जाती है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अज्ञान कृत भेद मिट जाता है और आत्मा को अपनी परमार्थिकता की अनुभूति हो जाती है।'[13] अज्ञानता के कारण दुनिया में लोग द्वंद्व में फंसे हुए हैं, दो मन लिए वो भटकते रहते हैं। वह किसे सही माने इसकी समझ शक्ति खो चुके हैं। बुद्धि पर पड़े इस अज्ञान की चादर को हटाने के लिए श्रीमंत शंकरदेव और रैदास, गुरु के प्रसाद अर्थात् गुरु के शब्दों को जीवन में ग्रहण करने की बात करते हैं, **'गुरु परसाद भई अनु भौ मति, विष अमृत सम ध्यावैगा।'**[14] दोनों ही संत अपनी वाणी में गुरु को जीवन का मुख्य आधार मानते हैं।

संतों ने अपने जीवन में अनुभव के ज्ञान को जीवन का सार माना है। इस अनुभव के ज्ञान में यात्रा की अहम भूमिका रही है। श्रीमंत शंकरदेव और रैदास ने भारत का भ्रमण कई वर्षों तक करते हैं। भारत भ्रमण के दौरान अनेक संतों से शंकरदेव की भेंट-वार्ता हुई और अनेक अन्य संतों के बारे में जानने और सुनने को भी उन्हें मिलता है। साथ ही अन्य संतों की वाणी से भी

उनका परिचय होता है। शंकरदेव अपनी वाणी में इस बात का उल्लेख भी करते हैं– **'उरेषा बाराणसी ठावे ठावे।/कबिर–गीत शिष्ट सबे गावे॥'**[15] शंकरदेव ने भारत के लगभग सभी प्रमुख तीर्थस्थलों की यात्रा की है, 'जिनमें प्रमुख थे– काशी, गया, मथुरा, वृंदावन, प्रयाग, बदरिका आश्रम, द्वारका, रामेश्वरम आदि। इन सभी स्थानों में शंकरदेव ने वैष्णव धर्म का महत्त्व प्रतिपादित किया और लोगों में भगवत धर्म के प्रति चेतना जागृत की। वह सबसे अधिक दिनों तक जगन्नाथपुरी में रहे, जहाँ उन्हें भक्ति योग का ज्ञान हुआ। अपनी यात्रा के दौरान शंकरदेव ने जहाँ एक ओर लोगों में नई विचार–क्रांति जागृत की, वहीं समाज को भागवत धर्म का मर्म समझाकर उसे नई चेतना दी।'[16] भारत भ्रमण से लौटने के बाद शंकरदेव ने सांसारिक जीवन को त्यागते हुए अपना सारा जीवन ग्रन्थ रचना और सामाजिक सरोकार में लगा दिया, वह अपने परिवार के लोगों से यह कहते भी हैं कि, 'अब इन सांसारिक कर्मों में मेरा चित्त नहीं रमता। अब यह कर्म तुम्हीं लोग करो। मैं तो अब ग्रन्थ और पद की रचना करूँगा।'[17]

संतों ने भक्ति के क्षेत्र में व्याप्त धार्मिक, सामाजिक संकीर्णताओं की अवहेलना की है। तभी इन संतों ने मन मन्दिर को प्रमुखता दी है और कहा है जहां दिल में प्रेम होगा वहीं प्रभु का वास होगा। रैदास जाति व्यवस्था पर सवाल खड़ा करते हुए जन्म के बदले कर्म को महत्त्व देते हैं– **'जन्म जात के छांडि करि, करनी जात पर ध्यान।/इहयों वेद का धर्म है, करै रैदास बखान॥'**[18] रैदास कर्म को जीवन का मूल आधार मानते हैं, **'जो जिहि करै वैसा ही पावै, करम फल तति काल निबेरे।'**[19] रैदास मन्दिर और तीर्थ यात्रा पर जाने वाले लोगों को वास्तविकता से अवगत कराते हुए कहते हैं कि, **'का मथुरा, का द्वारका, का काशी, हरिद्वार?/रविदास जो खोजा दिल अपना तो मिलिया दिलदार।'**[20]

श्रीमंत शंकरदेव लिखते हैं कि, **'कलिर धर्मं हरि नाम जान।'**[21] विष्णु के जाप से प्रभावित होकर श्रीमंत शंकरदेव 'एकशरण–नाम धर्म' को स्थापित करते हैं। इन दोनों ही धर्मों में किसी भी जाति, संप्रदाय, धर्म, राजा, प्रजा का इंसान इस धर्म को अपना सकता था। विष्णु के जाप करने से ही सारे दु:ख और पीड़ाओं का अंत हो जायेगा और आत्मा को बैकुंठ की प्राप्ति भी हो जाएगी। श्रीमंत शंकरदेव भगवान विष्णु की कथा सभी जन को सुनने भर से उसका भला हो जाने की बात करते हैं– **'कृष्णर चरित्र शुनियोक सर्व जने।/जीवन्ते नेरिबे बहुमान धने–जने॥/ मरिलेओ थिति हैबे विष्णुर पुरीत।/इहलोके–परलोके दुयो लोके हित॥'**[22] मध्यकालीन संत ऐसे मानव धर्म को स्थापित कर रहे थे जिसके 'घट–घट में तेरा सांई बसता' है। संतों ने मनुष्य की पीड़ा और मानव धर्म की एकता को एक साथ जोड़ने का प्रयास किया है। कबीर, तुलसी, नरसी मेहता या अन्य सभी संतों[23] का मानना है कि दूसरे को दु:ख देने से बड़ा पाप कोई नहीं हैं और दूसरे को सुख पहुँचाने से बड़ा कोई पुण्य नहीं है। जो दूसरों को कष्ट देता है वह स्वयं भी कष्ट का भागीदारी बनता है। संत कवियों ने मनुष्य की एकता पर सर्वाधिक बल दिया है। तभी इन संतों ने लोकहित के सिद्धांत पर धर्म और अधर्म की नई परिभाषाओं को निर्मित किया है। इन संतों ने जीवन मूल्य का मुख्य आधार मानस प्रेम को माना है, **'सब नर करहिं परस्पर प्रीति, चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।'**[24] समाज को मानस प्रेम का पाठ समझाने के लिए इन संतों को अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ा। श्रीमंत शंकरदेव, रैदास या अन्य संत कवि, सभी समाज को सत्य की अनुभूति कराने के लिए अनेक समस्याओं का सामना करते हैं।

संतों ने गुरु के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति की और उसी ज्ञान के आधार पर समाज सुधार का काम

किया। संत साहित्य का मूल्य बोध सामाजिक यथार्थ की उपज है। संत कवियों ने सबसे पहले धर्म को आकाश से उतारकर जमीन पर लाकर लोक जीवन से जोड़ने का काम किया। संत कवियों ने जिस धर्म की स्थापना की वो मानव प्रेम का धर्म था। साथ ही इन संतों का मानना था कि जब सबको रचने वाला एक है, चाहे वो सवर्ण हो या अवर्ण हो, मुसलमान हो या हिंदू हो तो सभी का एक समान अधिकार समाज में क्यों नहीं हैं–

जब सभ करि दो हाथ पग, दोउ नैन दोउ कान।
रविदास पृथक कैसे भये, हिंदू मुसलमान।[25]

मध्यकालीन संतों की सबसे बड़ी खास बात यह थी कि उन्होंने अपनी वाणी को लोक तक पहुँचाने के लिए किसी शास्त्रीय या राजा की भाषा का अनुकरण नहीं किया बल्कि 'लोक भाषा' को अपनी वाणी का आधार बनाया, जिस तरह गौतम बुद्ध ने समाज कल्याण के लिए पाली को अपने उपदेश का आधार बनाया था। कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, जायसी, ज्ञानदेव, तुकाराम, मलूकदास, ललद्यद, नरसी मेहता आदि सभी संतों ने लोक भाषा को ही अपनी वाणी के लिए उपर्युक्त समझा। रैदास और श्रीमंत शंकरदेव ने समाज को जागृत करने के लिए लोकभाषा का चयन किया। भारत भ्रमण के दौरान शंकरदेव ने देश की एकता के लिए भाषा के महत्त्व को गहराई से समझा। शंकरदेव ने देखा कि वैष्णव धर्म–प्रचार में ब्रज बोली तथा मैथिली भाषा का बहुत बड़ा योगदान है। अत: असम में वैष्णव धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए उन्होंने लोक भाषा 'ब्रजबुलि' को चुना। इस सन्दर्भ में देवकांत बेजबरुआ लिखते हैं कि, 'शंकरदेव की भाषा–शैली दो प्रकार की थी। एक तो शुद्ध असमिया की तथा दूसरी ब्रज और मैथिली मिश्रित असमिया की। तीर्थयात्रा से पूर्व की रचनाओं की भाषा असमिया है और यात्रा से लौटने के बाद की कृतियों में दूसरे प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है।'[26]

श्रीमंत शंकरदेव भी कर्म की महत्ता को स्वीकार करते हैं। परन्तु इस कर्म के लिए मन रूपी मंदिर को प्राथमिकता देते हैं। शंकरदेव मानते हैं कि यह मन ही किसी काम को करने से रोकता है और काम करने की इजाजत भी देता है। यह मन कभी स्थिर नहीं रहता हैं– **'नाना कर्म करिबाक करे आलोचना।/एको कर्म स्थिर नोहे ताक बुलि मन।'**[27] परन्तु मनुष्य को मन की चंचलता को समझना होगा और अच्छे–बुरे की समझ भी बनानी होगी। इसीलिए मनुष्य को कोई भी कार्य शुद्ध आचरण से करना होगा, जिससे किसी का अहित न हो। शंकरदेव इसी कारण अपनी वाणी में शुद्ध मन से किए गए कार्य पर जोर देते हैं, क्योंकि अगर मन अशुद्ध होगा तो सारे कर्म विफल हो जायेंगे– **'अशुद्ध मनर कर्म विफल।/स्रवे येन आवाँ घटक जल॥'**[28] यह शुद्ध मन ही आपके स्वर्ग और नरक का द्वार दिखाता हैं और यह मन ही आपको अपने–पराए का भेद भी बताता है– **'मने पाप पुण्य स्वर्ग मने से नरक।/मनेसे करिछे भेद आपोन परक।'**[29]

मनुष्य को मनुष्य बनाने के साथ–साथ 'जीने की विधि' सिखाने का काम भी इन संतों ने किया। मध्यकालीन संतों ने अपने अनुभव के आधार पर मानव मूल्यों को समाज में स्थापित किया। समाज जहाँ मनुष्य और मनुष्यता के धर्म को खो कर जाति, धर्म, रूढ़ी, अन्धविश्वासों में बँट रहा था, ऐसे समय में श्रीमंत शंकरदेव और रैदास ने एक जाति मनुष्य जाति की संकल्पना का उदात्त आह्वान किया। दोनों ही संत अपनी वाणी से इस मानव समाज में युगों–युगों तक प्रासंगिक बने रहेंगे।

'मिलता कितने पुण्य से भारत में मनुष्य तन।
चिंतामणि–जन्म हाथों में खो जाता धन॥

टूट रही आयु क्षण क्षण, दिन दिन।

कलि में और कुछ नहीं, जानो हरि नाम बिन॥'[30]

सन्दर्भः

1. उद्धरित, रैदास ग्रंथावली, संपादन डॉ. एन. सिंह, पृष्ठ–125
2. कबीर ग्रंथावली– माता प्रासाद गुप्त, पृष्ठ–73
3. कबीर ग्रंथावली, माता प्रसाद गुप्त, पृष्ठ –117
4. जम्भसागर, टीकाकरण–कृष्णानंद आचार्य, पृष्ठ–96
5. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित)– डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृष्ठ–307
6. जम्भवाणी मूलसंजीवनी व्याख्या (संदर्भ सहित)– डॉ. किशना राम बिश्नोई, पृष्ठ–87
7. गुरु काटै जम फांस, नियति सब अधै नसावै। – चरणदास

   गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूं पायं।

   बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताय। – कबीरदास

   दादू देब दयाल की सबै लगाई बाट।

   ताला कूंजी लाय कर खोलै सबै कपाट।–दादूदयाल

   गुरु राखै जो कोप विधाता, गुरु विरोध नहि कोउ जग त्राता। –तुलसीदास
8. कबीर ग्रंथावली– माता प्रासाद गुप्त, पृष्ठ–1
9. चरणदास– भक्तिसागर, पृष्ठ–324
10. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ–55
11. वही, पृष्ठ–55
12. रैदास की वाणी, विल्बेडियर प्रेस, इलाहाबाद, पद–73
13. कबीर ग्रंथावली– बाबू श्यामसुंदर दास, भूमिका से
14. रैदास की वाणी, विल्बेडियर प्रेस, इलाहाबाद, पद–94
15. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ–5
16. शंकरदेव हरिकृष्ण देवसरे, पृष्ठ –9
17. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ– 6
18. रैदास की वाणी,विल्बेडियर प्रेस, इलाहाबाद
19. रैदास वाणी–सम्पा. डॉ. शुकदेव सिंह, पृष्ठ–179
20. रैदास की वाणी, विल्बेडियर प्रेस, इलाहाबाद
21. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ –9
22. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ–15
23. 'कबीरा सोई पीर है जो जाने पर पीर'– कबीर

    'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीरा सम नहिं अधमाई' – तुलसी

    'वैष्णव जन तो तैने कहिए, पीर पराई जाने रे' – नरसी मेहता
24. रामचरितमानस– तुलसीदास, पृष्ठ–467
25. रैदास की वाणी, विल्बेडियर प्रेस, इलाहाबाद
26. ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य– देवकांत बेजबरुआ, पृष्ठ 420
27. श्रीमंत शंकरदेवः व्यक्तित्व और कृतित्व डॉ. भूपेंद्र रायचौधरी, पृष्ठ–110
28. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ–28
29. श्रीमंत शंकरदेवः व्यक्तित्व और कृतित्व डॉ. भूपेंद्र रायचौधरी, पृष्ठ–110
30. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव रामनिरंजन गोयनका, पृष्ठ–61

10 भारत की दिव्य महान् विभूतिः गुरु जम्भेश्वर जी महाराज

प्रो. बलवीर चौधरी
सहायक निदेशक
राजस्थान महाविद्यालय शिक्षा, जोधपुर (राजस्थान)

भारतीय ज्ञान परम्परा एक विशाल नदी की तरह सदियों से निरंतर प्रवाहमान है। यह ज्ञान परम्परा जो प्राचीन काल से चली आ रही है इसका चरम स्वरूप हमें भक्ति काल (मध्यकालीन साहित्य) में देखने को मिलता है। भक्ति काल मानवीय चेतना की दृष्टि से उत्कृष्ट काल है, इस युग में जितने भी संत, महापुरुषों, भक्तकवि, साधक हुए सभी ने मानवता को सर्वोपरि माना। यह कालखंड एक प्रकार से मानवता की महान साधना से संपृक्त है जिसके मूल रूप में लोक कल्याण या विश्व कल्याण की भावना निहित है। गुरु जंभेश्वर जी ने भारतीय ज्ञान परम्परा के उदात्त मानवीय मूल्यों और आध्यात्मिकता से समृद्ध किया साथ ही मानव जीवन के नैतिक और संयमित आचरण पर विशेष बल दिया। सर्वधर्म समभाव, समानता और सामाजिक समरसता का उन्होंने संदेश दिया।

गुरु जंभेश्वर जी ने मध्यकाल में सनातनी हिन्दू तत्त्व ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में धारण उतार कर मानवीय मूल्यों को चरितार्थ किया। जांभाणी संत कवि साहबराम राहड़ के अनुसार–

जड़ चेतन विश्व यह सारा, सब घटे एक जंभ निर्धारा।
जंभ समान सकल जग जानी, निमसकार कर्महु मन बानी ॥

(जंभसार भाग–1, पृष्ठ–44)

वे इस धरा धाम पर अवतरित एक दैवीय महामना एवं महान् चिंतक और विचारक थे। उन्होंने कहा है कि मेरे (सांई) के सहस्र नाम है–

सहंस नांव सांई फळ सिंभु उपना आदि मुरारी।

(सबदवाणी सबद संख्या–93)

गुरु जंभेश्वर जी ने जीवन–मृत्यु के आवागमन से छुटकारा एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु विष्णु नाम स्मरण पर बल देते हैं–

भूला प्राणी विसन जंपों रे मरण विसारो केहूं।

(सबदवाणी सबद संख्या–23)

गुरु जंभेश्वर जी का जन्मावतार भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल में पंवार (परमार) वंश में हुआ, उस वंश के विक्रमादित्य एवं भोज जैसे यशस्वी सम्राट इतिहास प्रसिद्ध है। गुरु जंभेश्वर जी के दादाजी रोलोजी राजा विक्रमादित्य की 40वीं पीढ़ी में हुए थे। (जम्भदेव चरित्र भानु–स्वामी ब्रह्मानंद, पृष्ठ–16) रोलोजी के पुत्र लोहट जी पंवार और हांसा देवी को गुरु जंभेश्वर जी के लौकिक माता–पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि–

सांत दांत निज धर्म उदारा, दम्पत करहि सदा उपकारा।

(जंभसार भाग–1, पृष्ठ–40)

गुरु जंभेश्वर जी का लौकिक जीवन चरित मध्यकालीन संत–भक्त कवियों, ऋषि–मनीषियों एवं महापुरुषों से काफी भिन्नता लिए हुए हैं। वे अपने अलौकिक व्यक्तित्व, दिव्य शक्ति एवं अद्‌भुत चरित के माध्यम से सहज ही अवतारों की श्रेणी में पहुंच जाते हैं। वे साधारण बालकों जैसे आचार, व्यवहार एवं स्वभाव में पूर्ण रूप से भिन्न थे। 'वे जन्म से योगी थे और अपनी अलौकिक स्थिति में मस्त रहते थे। (कल्याण–गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ–817, वर्ष–10) जांभाणी साहित्य एवं दर्शन के अनुसार गुरु जंभेश्वर जी के कार्य एवं उनका व्यवहार अन्य बालकों से भिन्न था

और वे पूर्णत: निराहारी थे।

सात वर्ष तक बाल-लीला के माध्यम से विभिन्न प्रकार के दिव्य चरित्रों को उद्घाटित करने के पश्चात् सत्ताइस वर्ष तक गोचारण का कार्य किया। जिस प्रकार द्वापर युग में श्रीकृष्ण ने गायें चराई थी, उसी तरह ही कलियुग में गुरु जंभेश्वरजी ने गायें चराई और बाल-ग्वालों को विभिन्न प्रकार के चरित दिखलाए।

गाय भैंस्या छाली सलवार, वन मां चरे कर नीत्य सार।
भूखा ने अंन दीय अहार, पास्या ने जल कर तीयार॥

(पोथो ग्रंथ ज्ञान, पृ.-197)

गोचारण काल में राजस्थान के युगीन शासक राव दूदा एवं गुरु जंभेश्वरजी की पीपासर के कुएं के पास भेंट विशेष रूप से प्रसिद्ध है। भेंट का कारण एवं गुरु जंभेश्वरजी के दिव्य चरित, आचार-व्यवहार को संत कवि केसोदास गोदारा ने कथा बाललीला में इस प्रकार उद्घाटित किया है-

सिरजणहार कह्यो सुणाय अजिया उठो पीवौ जाय।
अंति छाली हुंती एकठी, अपरम्पर रै कहियै उठी।
पसवै विसन पिछाणियों, भगवंत भगवै बेस।
बैठया रहिया बकरा, इदो करै आदेस।
कर जोड़ै दूदाजी कहीं दूदैजी ओलख्या दई।
मो अपरम्पर पूरौ आस, पारब्रह्म कीजै परगास।
साम्य कहै करी पछौ मतो, मया करि दीनौ मेड़तो।
जम्भेसर देखी जुगति, हरखी न आवैहार।
काठ मुंठि करता करै, तद सूंपी तरवार॥

उनके साथ ही गुरु जंभेश्वर जी ने जोधपुर के शासक राव जोधा को उनकी इच्छित वस्तु बेरीसाल नगाड़ा दिया। वर्तमान में यह नगाड़ा बीकानेर के जूनागढ़ किले में सुरक्षित है। गुरु जंभेश्वर जी इस धरा धाम पर लोक कल्याण, संसार में धर्म, सदाचार एवं मानवता का प्रसार करने तथा विस्नु-साक्षात् परमतत्त्व का संदेश जनसाधारण को देने हेतु पृथ्वी पर प्रगट हुए। वे सांसारिक जीवन, आवश्यकता आदि से पूर्णत: मुक्त थे। उनका मूल मंतव्य समाज एवं राष्ट्र में मानवता की स्थापना करना था। गुरु जंभेश्वर जी से आत्मनिवेदन करते हुए एक जांभाणी संतकवि कहते हैं कि-

ऊंडो नीर अथाग, जुग सारे हो तो सही।
पगे पगे पगवाय, कलयुग कीवी गुरु जंभ ही।
कलयुग कीवी गुरु जंभ ही, पगे पगे पगवाय।
अमृत जल से हेम भरी, हर कोई पीवण जाय।
हरजी गुरु जी मुक्ति का, दर्शन दो सुरराय।
जंभगुरु से वीणती, अबकै मोह मिलाय॥

(साखी भावार्थ प्रकाश, पृ.-334)

युगों से जो संदेश जन-जन तक पहुंचाना था, उसी संदेश को अलग-अलग युगों में भिन्न-भिन्न रूपों में पहुंचाने के पश्चात कलियुग में संभराथल नामक धोरे पर विश्नोई पंथ का प्रवर्तन कर गुरु जंभेश्वर जी ने समाज एवं राष्ट्र तक पहुंचाया। जम्भवाणी के अनुसार उन्होंने किसी गुरु के सान्निध्य में जाकर शिक्षा प्राप्त नहीं की, उन्होंने केवल आत्मतत्त्व के माध्यम से आत्म स्वरूप के ध्यान में रत होकर तत्त्व की स्थायी परिणति को प्राप्त किया-

म्है सरे न बैठा, सीख न पूछी निरत सुरपति सां जांच णी।

(सबदवाणी, सबद-6)

जांभाणी साहित्य साधक संतकवि साहबराम राहड़ के अनुसार गुरु जंभेश्वरजी ने विक्रम संवत् 1542 ज्येष्ठ कृष्ण नवमी के दिन भगवा वस्त्र धारण किया। अपने लौकिक माता-पिता के गोलोकवासी होने के पश्चात अपनी संपूर्ण लौकिक संपत्ति दान कर संभराथल नामक धोरे को अपना स्थायी निवास बनाया। यहां पर रहते हुए जनकल्याण की भावना के साथ सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की भावना से लौकिक व्यवहार के कार्य सिद्ध किए।

घट घट मांहि अघट हरि, ज्यौं जल चंदा सूर।
सीलता सीध ज दोय है, जितने न्यारी दूरी॥
सीलता समावै समंद मां, रहे न सीलता नांव।

यौ जीव संमावै सीवमां, जदि नीर सीध्य को नांव॥

(परमानंद बणियाल-पोथो ग्रंथ ज्ञान, पृ.-341)

उनकी जीवनशैली एवं विचारधारा बहुत ही संयमित, संतुलित, समन्वयवादी एवं आदर्शपूर्ण थी। उनके महनीय व्यक्तित्व एवं दिव्य स्वरूप से कई राज शासक, धार्मिक दिग्गज, पुरोहित, पंडित, काजी आदि प्रभावित हुए। जिनका विवरण छ: राजाओं की विगत में संतकवि वील्होजी के रचना संसार में उल्लेखित है।

गुरु जंभेश्वर जी महाराज एक जीवन मुक्त महापुरुष थे। 'जीवन मुक्त पुरुष लोक-धर्म से ऊपर उठकर शारीरिक आवश्यकताओं से मुक्त हो जाते हैं तथा उनके शरीर का धर्म सर्वथा लुप्त होकर केवल शुद्ध बुद्ध आत्मा का धर्म शेष रह जाता है। वे शरीर-धर्मी न रह कर आत्मधर्मी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में काम, क्रोध आदि की तो बात ही क्या, वे भूख प्यास जैसे शारीरिक धर्म आदि से भी मुक्त हो जाते हैं।' (धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ-संत परम्परा और साहित्य, पृ.-225) जांभाणी साहित्य साधकों एवं हुजूरी संतकवियों के अनुसार गुरु जंभेश्वर जी के लौकिक जीवन में उनकी पीठ कभी भी दिखाई नहीं देती थी, वे सर्वत्र प्रसन्नचित्त मुख मुद्रा में ही दिखाई देते थे। यहां तक कि उनकी छाया का भी कभी किसी को आभास प्रकट नहीं हुआ। वे सृष्टि के सृजनहार के रूप में सांसारिक मानवों के मनोभावों को जानने वाले दिव्य दृष्टि स्वरूपी जीवन मुक्त महापुरुष थे।

एक सबद में स्वयं गुरु जंभेश्वर जी ने अपने लौकिक जीवन का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा हैं कि-

प्रह्लादा सूं वाचा कीवी, आयौ बारां काजै।
बारा मों सूं एक घटे तो गुर चौलै लाजै॥

डॉ. हीरालाल माहेश्वरी के अनुसार 'मध्ययुगीन संत परम्परा में यह मान्यता नवीन है और गुरु जाम्भोजी की 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सोहमास्मि' वृत्ति की पुष्टि करती है। (जाम्भोजी- डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, पृ. -25) इस कथन की पुष्टि जम्भवाणी के सबद से इस प्रकार होती है-

म्हे शिम्भु का फरमाया आया, बैठा तखत रचाई।
दो भुज डंडे परबत तोला, फेरा आपण राई॥

गुरु जंभेश्वर जी ने अपने लौकिक जीवन में अनेक सबद अपनी दिव्य वाणी के माध्यम से व्यक्त किए जिन में से जितने सबद हुजूरी अंतेवासी शिष्य नाथोजी को याद थे, वे मौखिक रूप से लोक में प्रचलित हुए और वर्तमान में 'जम्भवाणी' या 'सबदवाणी' के रूप में प्रकाशित है।

अनंत सबद संत गुरु कह्या, पच्चासी बरस परवाण।
नाथै कंठि रहिया अता, सेई सीख्या वील्ह सुजांण॥

(जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य-भाग-1, पृ.-275)

गुरु जंभेश्वर जी ने लोक में सदाचार, संयम, संतोष, सत्य, अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील, विनम्रता, पवित्रता, दान, पर्यावरण संरक्षण, प्राणी मात्र के प्रति दया एवं दान जैसे नैतिक नियमों का पालन करने एवं अनैतिक आचरण से सर्वथा मुक्त होकर जीवन यापन करने की प्रेरणा प्रदान की। गुरु जंभेश्वर जी ने लोक को व्यष्टि के स्थान पर समष्टि के कल्याण की भावना से व्यक्ति को सुकृत्य के लिए प्रेरित किया। गुरु जंभेश्वर जी का आविर्भाव मानवतावादी दृष्टिकोण, समन्वयवादिता युक्त, गागर में सागर भरने वाला है। गुरु जंभेश्वर जी का दर्शन मुख्य रूप से लौकिक है जिसका संबंध संपूर्ण संसार के व्यावहारिक जीवन से है। सामाजिक न्याय, चेतना, परमतत्त्व का ज्ञान, मोक्ष प्राप्ति, आत्मविश्वास, नैतिक आचरण इसके मूल में निहित है। गुरु जंभेश्वर जी ने समाज एवं राष्ट्र को भगवद् प्राप्ति हेतु 'नाम स्मरण' का व्यावहारिक, सहज मार्ग बतलाया-

विष्णु मंत्र है प्राण आधार जो जपै सौ उतरै पार॥

(विष्णु मंत्र-श्री जम्भवाणी टीका, पृ.-336)

गुरु जंभेश्वर जी के दर्शन, उनकी विचारधारा में ब्रह्मांड, आकाश, वायु, तेज, जल, धरती एवं विज्ञान जैसे विषयों पर गहरी अंतर्दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। ज्ञान–विज्ञान एवं अध्यात्म विषयक उनका दृष्टिकोण समस्त जगत में आश्चर्यजनक है। राष्ट्र के समस्त मानव समुदाय एवं वनस्पति जगत तक को गुरु जंभेश्वरजी ने मानव रूप में एक ईश्वरीय आत्मा के माध्यम से प्रेरित एवं प्रभावित किया। अंत में संतकवि साहबराम राहड़ के शब्दों में–

गुरु गरवा समेर सम, गहरा समंद समान।
मीठा इम्रत उदधि इव, साहब नैना भांन॥
ध्यांन कला गुरु जोग्य है, ज्ञांन कला गुरु सांख।
विज्ञान कला वेदान्त गुरु, साहब सतगुरु आख॥

(जंभसार भाग–1, पृ.–2)

सहायक ग्रंथः

1. जम्भसार– साहबराम राहड़, संपादक– स्वामी कृष्णानंद आचार्य।
2. पोथो ग्रंथ ज्ञान– संपादक स्वामी कृष्णानंद आचार्य
3. जम्भवाणी में लोक चेतना– डॉ. पुष्पा विश्नोई, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
4. जाम्भोजी, विष्णोई संप्रदाय और साहित्य– डॉ. हीरालाल माहेश्वरी
5. श्री जम्भवाणी टीका– डॉ. हीरालाल माहेश्वरी
6. जम्भवाणी मूल संजीवनी व्याख्या– डॉ. किशनाराम बिश्नोई, डॉ. रामस्वरूप।

गुरु जम्भेश्वर जी महाराज धार्मिक अध्ययन संस्थान
(धार्मिक संकाय)

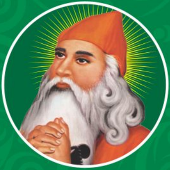

गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
हिसार-125 001 (हरियाणा)

DOREX® Printers 9896011117